अग्निशिखा
अखिल भारतीय पत्रिका
नवम्बर २०२०

पूर्ण योग का सार-सूत्र

अग्निशिखा नवम्बर २०२० वर्ष ५१, अंक ४, पूर्णांक ६०३

विषय-सूची

पूर्ण योग का सार-सूत्र

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

प्रार्थना	३
अतिमानस और अधिमानस	५
योग की शुरुआत	६
पथ पर बढ़ना	२०
द्रुतगामी विकास	३०
सच्चा आध्यात्मिक जीवन	५२
पूर्णयोग की कुञ्जी	५९

'पुरोधा'

दैनन्दिनी	६४
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' : ध्यान की वृत्ति को बनाये रखो	नवजातजी ६७
वीरता और विशालहृदयता के धनी शिवाजी	वन्दना ६८

कम-से-कम मुझे विश्वास है कि अगर मैं सब चीज़ों को शान्ति और धैर्य के साथ देख सकूँ तो इस योग में न दुःख-दर्द होगा न कठिनाई।

हाँ, यह योग शान्ति तथा आनन्द पर आधारित है, दुःख-दर्द पर नहीं।
१२ मार्च १९३६ —श्रीमाँ

प्रार्थना

२३ जनवरी १९१७

तूने मेरी सत्ता को इतने पूर्ण, इतने तीव्र प्रेम और सौन्दर्य और आनन्द से भर दिया कि मुझे यह असम्भव लगा कि यह सञ्चारित न हो। वह एक धधकती हुई वेदी की तरह था जहाँ से विचार के श्वास ने बहुत सारी चिनगारियाँ बिखेर दीं जिन्होंने मनुष्यों के हृदयों की गहराइयों में प्रवेश करके ऐसी ही अग्नियाँ, तेरे दिव्य प्रेम की अग्नियाँ सुलगा दीं, हे प्रभो, उस 'प्रेम' की अग्नियाँ जो दुर्निवार रूप से सभी मनुष्यों को प्रेरित करता और तेरी ओर खींचता है। हे मेरे मधुर स्वामी, वर दे कि यह केवल मेरी आनन्द-विभोर चेतना का एक अन्तर्दर्शन मात्र न हो, बल्कि वस्तुतः एक सत्य हो, प्रभावकारी रूप से सभी सत्ताओं और वस्तुओं का रूपान्तर करने वाला सत्य हो।

वर दे कि यह प्रेम, यह सुन्दरता और यह आनन्द जो मेरी समस्त सत्ता में बाढ़ ले आते हैं, जो मुश्किल से उनकी तीव्रता सह सकने में समर्थ हैं, ये उन सबकी चेतना में भी बाढ़ ले आयें जिन्हें मैंने देखा है, जिनके बारे में मैंने सोचा है और उनमें भी जिन्हें मैंने कभी नहीं देखा या जिनके बारे में कभी नहीं सोचा... वर दे कि सभी तेरे अनन्त 'आनन्द' की चेतना के प्रति जागें!

हे मेरे मधुर स्वामी, उनके हृदयों को आनन्द से, प्रेम से और सुन्दरता से भर दे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. २१६

हर एक जो श्रीमाँ के प्रति मुड़ा हुआ है, मेरा योग कर रहा है। यह मानना एक बड़ी भूल है कि व्यक्ति मात्र अपने ही प्रयास से योग के सभी पहलुओं को कार्यान्वित और चरितार्थ करके "पूर्ण योग" कर सकता है। कोई भी मानव सत्ता यह नहीं कर सकती। व्यक्ति को जो करना है वह यह है कि अपने-आपको माँ के हाथों में सौंप दे और सेवा, भक्ति, अभीप्सा के द्वारा उनके प्रति खुले; तब माँ अपने प्रकाश और अपनी शक्ति के द्वारा उसके अन्दर क्रिया करती हैं ताकि साधना की जा सके। यह भी एक भूल है कि व्यक्ति के अन्दर एक बड़ा पूर्ण योगी या अतिमानसिक सत्ता बनने की महत्त्वाकांक्षा हो और वह यही पूछता रहे कि इस पथ पर मैं कितना आगे बढ़ चुका हूँ। उचित मनोभाव यह है कि तुम माँ के प्रति निष्ठावान् रहो, स्वयं को उनके हवाले कर दो और यही मनोकामना रखो कि तुम वही बनो जो श्रीमाँ तुम्हें बनाना चाहती हैं। बाक़ी सबका निश्चय माँ ही करेंगी और वे ही तुम्हारे अन्दर क्रिया करेंगी।

Champaklal Speaks, पृ. ३३४-३५ **श्रीअरविन्द**

अतिमानस और अधिमानस

श्रीअरविन्द का काम है धरती का अद्‌भुत रूपान्तर।

मन के ऊपर सचेतन सत्ता के कई स्तर हैं, उनमें वास्तविक दिव्य जगत् वह है जिसे श्रीअरविन्द अतिमानस कहते हैं, यह 'सत्य' का जगत् है। लेकिन बीच में वैश्व देवताओं का जगत् है जिसे श्रीअरविन्द अधिमानस कहते हैं। अभी तक हमारे संसार पर अधिमानस का राज्य रहा है : ज्योतिर्मयी चेतना में यही सबसे ऊँचा स्तर है जहाँ तक मनुष्य पहुँच पाया है। इसी को परम प्रभु मान लिया गया और जो लोग वहाँ पहुँचे उन्होंने क्षण-भर के लिए भी उसके परम सत्य-चेतना होने में शंका नहीं की। क्योंकि, साधारण मानव चेतना के लिए उसकी भव्यता और उसकी दीप्तियाँ इतनी महान् हैं कि वह उन्हें देख कर चौंधिया जाता है और मान लेता है कि अन्ततः यही सत्य का शिखर है। लेकिन तथ्य यह है कि अधिमानस सच्चे भगवान् से बहुत नीचे है। यह 'सत्य' का स्वधाम नहीं है। यह केवल निर्माताओं का और उन सर्जक शक्तियों और देवों का लोक है जिनके आगे लोग इतिहास के आरम्भ से झुकते आये। और वास्तविक भगवान् के अभिव्यक्त न होने और पार्थिव प्रकृति को रूपान्तरित न करने का कारण ठीक यही है कि अधिमानस को अतिमानस माना जाता रहा है। वैश्व देवता पूरी तरह 'सत्य चेतना' में नहीं रहते : वे केवल उसके साथ सम्पर्क में होते हैं और उनमें से हर एक उसकी महिमा के एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।...

इसलिए, अधिमानस में मानव को दिव्य प्रकृति में रूपान्तरित करने की क्षमता न तो हो सकती है, न है। उसके लिए अतिमानस ही एकमात्र साधन है। जो चीज़ जीवन को अध्यात्म बनाने के प्राचीन काल के प्रयासों से हमारे योग को अलग करती है वह यही है कि हम जानते हैं कि अधिमानस की दीप्तियाँ उच्चतम सत्य नहीं, मन और सच्चे भगवान् के बीच केवल अन्तर्वर्ती क़दम हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १८४-८५

योग की शुरुआत

योग के लिए पुकार

तुम योग-साधना किसलिए करना चाहते हो? शक्ति प्राप्त करने के लिए? शान्ति और स्थिरता की प्राप्ति के लिए? मानवजाति की सेवा के लिए?

इनमें से कोई भी उद्देश्य यह बताने के लिए काफ़ी नहीं है कि तुम इस योग-मार्ग के लिए हो।

तुम्हें जिस प्रश्न का उत्तर देना है वह यह है : क्या तुम भगवान् के लिए योग-साधना करना चाहते हो? क्या भगवान् ही तुम्हारे जीवन के परम सत्य हैं, यहाँ तक कि तुम उनके बिना रह ही नहीं सकते? क्या तुम यह अनुभव करते हो कि तुम्हारे जीवन का एकमात्र उद्देश्य भगवान् ही हैं और उनके बिना तुम्हारे जीवन का कोई अर्थ नहीं है? यदि ऐसा हो तभी कहा जा सकता है कि तुम्हारे अन्दर योग-मार्ग के लिए पुकार है।

सबसे पहली आवश्यक चीज़ है, भगवान् के लिए अभीप्सा।

और दूसरी बात है, इस अभीप्सा को सतत बनाये रखना, उसे सदा जीवन्त, ज्वलन्त और जाग्रत् रखना। और इसके लिए जिस बात की आवश्यकता है वह है एकाग्रता—भगवान् पर एकाग्रता जो उनके 'संकल्प' और 'अभिप्राय' के प्रति पूर्ण और निरपेक्ष आत्म-समर्पण के भाव से की गयी हो।

हृदय-केन्द्र में अपने-आपको एकाग्र करो। हृदय में प्रवेश करो, उसके अन्दर जाओ, उसकी गहराई में उतरो और दूर तक, जितनी दूर तक तुम जा सको, जाओ। अपनी चेतना के बाहर बिखरे हुए सभी धागों को एकत्र कर लो, उन्हें समेट कर अन्दर डुबकी लगाओ और तह में जाकर बैठ जाओ।

वहाँ, हृदय की गभीर शान्ति में एक अग्नि धधक रही है। यही है तुम्हारे अन्तर में रहने वाले भगवान् का दिव्य अंश—तुम्हारी सत्य सत्ता (हृत्पुरुष)। इसकी आवाज़ सुनो और इसके आदेश का पालन करो।

एकाग्रता के लिए दूसरे केन्द्र भी हैं, उदाहरणस्वरूप, एक केन्द्र मस्तिष्क के ऊपर है (सहस्रार), दूसरा भ्रू-मध्य में है (आज्ञा)। इनमें से हर एक

का अपना प्रभाव है और हर एक किसी परिणाम पर पहुँचता है। परन्तु केन्द्रीय पुरुष का स्थान हृदय है और हृदय से ही सब केन्द्रीय प्रवृत्तियाँ निकलती हैं—यहीं से रूपान्तर के लिए समस्त गतिशीलता और लगन एवं आत्मदर्शन करने की शक्ति निकलती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ३-४

योग के लिए तैयारी

योग के लिए अपने-आपको तैयार करने के लिए क्या करना चाहिये?

सबसे पहले व्यक्ति को सचेतन बनना चाहिये। हम अपनी सत्ता के एक नगण्य से भाग में सचेतन हैं, इसके अधिकांश भाग में हम अचेतन हैं। यह अचेतनता ही हमें अपनी प्रकृति के अपरिमार्जित भाग के साथ नीचे की ओर बाँधे रहती है और उसके परिवर्तन या रूपान्तर को रोकती है। अचेतना द्वारा ही अदिव्य शक्तियाँ हमारे अन्दर घुस आती हैं और हमें अपना ग़ुलाम बना लेती हैं। तुम्हें अपने बारे में सचेतन होना चाहिये, अपनी प्रकृति और प्रवृत्तियों के प्रति तुम्हें जाग्रत् होना चाहिये, तुम्हें यह जानना चाहिये कि तुम किसी चीज़ को क्यों और कैसे करते हो, कैसे सोचते या अनुभव करते हो। तुम्हें अपने प्रेरक भावों, आवेशों और अपनी गुप्त या प्रकट शक्तियों को समझना चाहिये जिनकी प्रेरणा से तुम काम करते हो। या यूँ कहें कि तुम्हें अपनी सत्ता की मशीन के सभी कल-पुरज़ों को अलग-अलग करके जान लेना चाहिये। एक बार तुम सचेतन हो जाओ तो तुम खरे और खोटे की परख और छान-बीन कर सकोगे, तुम देख सकोगे कि कौन-सी शक्तियाँ तुम्हें नीचे की ओर खींचती हैं और कौन-सी ऊपर उठने में सहायता देती हैं। और जब तुम उचित को अनुचित से, सत्य को असत्य से, दिव्य को अदिव्य से अलग करके जान लो तो तुम्हें सख़्ती से अपने इस ज्ञान के अनुसार चलना चाहिये, अर्थात्, दृढ़तापूर्वक एक को त्याग कर दूसरे को स्वीकार करना चाहिये। पग-पग पर ये द्वन्द्व तुम्हारे सामने उपस्थित होंगे और पग-पग पर तुम्हें चुनाव करना होगा। तुम्हें धैर्य रखना होगा, लगन लगाये रखनी होगी और चौकन्ना रहना होगा—योगियों की भाषा में "निद्रा-रहित"; दिव्यता का विरोध करती अदिव्यता को किसी

भी प्रकार का मौक़ा देने से सदा ही इन्कार करना होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ४

योग-पथ

यहाँ जिस योग का अनुसरण किया जाता है उसका उद्देश्य दूसरे योगों से अलग है—क्योंकि इस योग का उद्देश्य न केवल अज्ञानी जागतिक चेतना से निकल कर भागवत चेतना में प्रवेश करना है बल्कि उस भागवत चेतना की अतिमानसिक शक्ति को नीचे मन, प्राण तथा शरीर में उतारना है ताकि वह उनका रूपान्तरण कर दे, यहाँ भगवान् को अभिव्यक्त कर, जड़-भौतिक में भागवत जीवन का निर्माण कर दे। यह एक अत्यन्त मुश्किल लक्ष्य है और अत्यन्त कठिन योग; कइयों को, या यह कहें कि अधिकतम को यह योग असम्भव लगेगा। जगत् की चेतना की सभी सामान्य अज्ञानी शक्तियाँ—जो यहाँ पूरी तरह से जमी हुई हैं—इस नूतन योग के विरुद्ध हैं, इसे नकारती हैं और इसके रास्ते बाधा बन कर आ खड़ी होती हैं और तब साधक अपने मन, प्राण और शरीर को इन घोरतम बाधाओं से घिरा पायेगा जो उसकी उपलब्धि में अड़ंगा लगायेंगी। अगर तुम अपने आदर्श पर जी-जान से डटे रहो, सभी बाधाओं का दृढ़ता से सामना करो, अपने अतीत और उसके पुछल्लों को पीछे कहीं दूर छोड़ दो, सब कुछ का त्याग कर दो और इस भागवत सम्भावना की चरितार्थता के लिए हर तरह का ख़तरा मोलने के लिए तैयार रहो, तभी, केवल तभी तुम अपनी अनुभूति द्वारा इस जगत् के पीछे का 'रहस्य' खोज निकालने की आशा कर सकते हो।

इस योग की साधना किसी बँधी-बँधायी मानसिक शिक्षा अथवा मन्त्र या ध्यान इत्यादि के लिए लिखित किसी प्रणाली के सहारे नहीं चलती, बल्कि यह आगे बढ़ती है अभीप्सा द्वारा, आन्तरिक या ऊर्ध्वमुखी आत्म-एकाग्रता द्वारा, उच्च प्रभाव तथा ऊपर स्थित 'दिव्य शक्ति' और उसकी क्रिया के प्रति आत्मोद्घाटन द्वारा, हृदय में स्थित 'दिव्य उपस्थिति' के प्रति आत्म-समर्पण द्वारा और उन सभी के त्याग द्वारा जो इन चीज़ों के विरोध में खड़ी रहती हैं। केवल श्रद्धा, अभीप्सा तथा समर्पण के द्वारा ही आत्मोद्घाटन हो सकता है।

पूर्ण योग का लक्ष्य

योग का लक्ष्य है, चेतना को भगवान् की ओर खोलना, बाहरी जीवन में क्रियाशील होते हुए भी अधिकाधिक आन्तरिक चेतना में जीना, अपनी अन्तरतम चैत्य सत्ता को सम्मुख ले आना और चैत्य की शक्ति द्वारा सत्ता को पवित्र तथा रूपान्तरित करना ताकि व्यक्ति की सत्ता रूपान्तरण, 'भागवत ज्ञान', 'इच्छा' और 'प्रेम' से तदात्म हो जाये। दूसरी चीज़ है—यौगिक चेतना को विकसित करना, यानी, सभी स्तरों पर अपनी सत्ता को वैश्व बनाना, वैश्व सत्ता और वैश्व शक्तियों के बारे में सचेतन होना और अधिमानस के सभी स्तरों पर भगवान् के साथ युक्त होना। तीसरी चीज़ है—अधिमानस के परे, अतिमानसिक चेतना के द्वारा परात्पर भगवान् के साथ सम्पर्क में आना, चेतना तथा प्रकृति को अतिमानसिकभावापन्न बनाना तथा गतिशील 'भागवत सत्य' तथा पार्थिव प्रकृति में उसके रूपान्तरकारी अवतरण के लिए स्वयं को माध्यम बनाना।

CWSA खण्ड २९, पृ. १९-२० **श्रीअरविन्द**

पूर्ण योग का सिद्धान्त

स्वयं को 'भागवत प्रभाव' के प्रति खोलना ही इस योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त है। वह प्रभाव तुम्हारे ऊपर ही है और एक बार तुम उसके प्रति सचेतन बन जाओ तो तुम्हें उसे अपने अन्दर उतारने के लिए बस उसका आह्वान करना होगा। वह मन तथा शरीर में 'शान्ति' के रूप में, 'प्रकाश' के रूप में, कार्य करने वाली 'शक्ति' के रूप में, साकार या निराकार भागवत 'उपस्थिति' के रूप में, 'आनन्द' के रूप में उतरता है। इस चेतना को पाने से पहले व्यक्ति के अन्दर श्रद्धा तथा उद्घाटन के लिए अभीप्सा होनी चाहिये। श्रद्धा, पुकार, प्रार्थना सभी एक और समान वस्तुएँ हैं और सभी प्रभावकारी होती हैं; इनमें से जो तुम्हारे पास आये या जो तुम्हें सबसे सुगम लगे, तुम उसे अपना सकते हो। दूसरा तरीक़ा है एकाग्रता का; तुम अपनी चेतना को हृदय पर एकाग्र करो (कुछ सिर में या सिर के ऊपर करते हैं) और हृदय में श्रीमाँ पर ध्यान लगाओ या वहाँ प्रतिष्ठित होने के लिए उनका आवाहन करो। तुम दोनों में से कोई भी विधि अपना सकते हो या अलग-अलग समय पर कभी एक, कभी दूसरी का प्रयोग कर सकते

हो—जो सहज रूप से तुम्हारे पास आये या जिसे करने के लिए तुम उस समय प्रेरित होओ। विशेष रूप से, आरम्भ में, सबसे बड़ी आवश्यकता होती है, मन को शान्त बनाने की, ध्यान के समय उन सभी विचारों और गतियों को अस्वीकार करने की जो साधना के लिए विजातीय हों। शान्त मन में अनुभूति को पाने के लिए प्रगतिशील तैयारी होती रहेगी। लेकिन अगर सब कुछ एकसाथ न हो तो तुम्हें कभी भी अधीर नहीं होना चाहिये; मन में पूर्ण शान्ति लाने में समय लगता है; तुम्हें तब तक प्रयास करते रहना होगा जब तक कि चेतना तैयार नहीं हो जाती।

इस योग में सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि क्या व्यक्ति प्रभाव के प्रति खुल सकता है या नहीं। अगर सभी बाधाओं के बावजूद उसकी अभीप्सा में सच्चाई हो और उच्चतर चेतना तक पहुँचने के लिए धीरज से लैस इच्छा हो तब किसी न किसी रूप में उद्घाटन होकर रहेगा। लेकिन मन, हृदय तथा शरीर की प्रस्तुत या अप्रस्तुत अवस्था के अनुसार कम या अधिक समय लग सकता है; इसलिए अगर व्यक्ति के अन्दर आवश्यक धीरज न हो तो बाधा का सामना न कर पाने के कारण व्यक्ति आरम्भ में ही प्रयास करना छोड़ सकता है। इस योग में इसके अतिरिक्त और कोई पद्धति नहीं है कि साधक अपनी चेतना को एकाग्र करे, विशेषकर हृदय में, और श्रीमाँ की उपस्थिति और शक्ति का आवाहन करे कि वे उसकी सत्ता को अपने हाथ में ले लें और अपनी शक्ति की क्रियाओं के द्वारा उसकी चेतना को रूपान्तरित करें। कोई चाहे तो अपने मस्तक में या भृकुटि के बीच भी चेतना को एकाग्र कर सकता है, परन्तु अधिकतर लोगों के लिए इस तरह आत्मोद्घाटन करना अत्यन्त कठिन होता है। जब मन शान्त-स्थिर हो जाता है और एकाग्रता दृढ़ तथा अभीप्सा तीव्र हो जाती है तब अनुभूति का होना आरम्भ हो जाता है। श्रद्धा जितनी अधिक होती है उतनी ही शीघ्रता से परिणाम भी प्राप्त होने की सम्भावना हो जाती है। बाक़ी चीज़ों के लिए साधक को केवल अपने ही प्रयास पर नहीं निर्भर करना चाहिये, बल्कि भगवान् के साथ सम्पर्क स्थापित करने तथा श्रीमाँ की 'शक्ति' और 'उपस्थिति' को ग्रहण करने में सफल होना चाहिये।

CWSA खण्ड २९, पृ. १०६-०७ **श्रीअरविन्द**

योग के ख़तरे

पूर्वीय लोगों की अपेक्षा पाश्चात्य लोगों के लिए योग अधिक ख़तरनाक नहीं है। सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि तुम इसमें किस भाव से आते हो। योग ख़तरनाक अवश्य हो जाता है यदि वह अपने लिए या स्वार्थसिद्धि के लिए किया जाये। और इसके विपरीत, यदि तुम उसकी पवित्रता की भावना को लिए हुए और यह याद रखते हुए कि तुम्हारा लक्ष्य भगवान् को पाना है, योग करो तो फिर योग से किसी प्रकार का भय नहीं रहता, बल्कि वह साक्षात् क्षेम और सुरक्षा बन जाता है।

कठिनाइयाँ और ख़तरे तो तब उपस्थित होते हैं जब लोग भगवान् के लिए योग-साधना नहीं करते, बल्कि किसी शक्ति की प्राप्ति के लिए या योग की आड़ में किसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए योग करते हैं। यदि तुम महत्त्वाकांक्षाओं से छुटकारा नहीं पा सकते तो इसका स्पर्श मत करो, यह आग है जो जला देती है।...

एक और ख़तरा है, और वह है काम-वासना के सम्बन्ध में। योग पवित्र करने की प्रक्रिया में उन सभी वासनाओं और इच्छाओं को जो तुम में छिपी पड़ी हैं, उघाड़ देगा और उनको ऊपरी तल पर उठा लायेगा। और तुम्हें यह सीखना होगा कि न तो इन चीज़ों को छिपाया जाये और न इनकी अवहेलना की जाये। तुम्हें इन सब चीज़ों का मुक़ाबला करना होगा, इन पर विजय प्राप्त करनी होगी और इन्हें एक नये साँचे में ढालना होगा। बहरहाल, योग का पहला प्रभाव होता है मानसिक संयम को हटा देना, इससे साधक की वे अतृप्त वासनाएँ, जो उसके अन्दर सोयी पड़ी रहती हैं, हठात् मुक्त होकर ऊपर उभड़ आती हैं और उस पर आक्रमण करती हैं। जब तक इस मानसिक संयम का स्थान भागवत संयम नहीं ले लेता तब तक संक्रमण-काल रहता है और इस काल में तुम्हारी सच्चाई और समर्पण कसौटी पर कसे जाते हैं। काम-वासना और इस प्रकार के दूसरे आवेशों को बल मिलने का प्रायः यह कारण होता है कि लोग इन पर बहुत अधिक ध्यान देते हैं, बहुत तीव्रता के साथ इनका विरोध करते हैं और निग्रह द्वारा इन्हें रोके रखना, अपने अन्दर ही किसी तरह दबाये रखना चाहते हैं। परन्तु तुम किसी चीज़ के बारे में जितना अधिक सोचते हो और कहते हो : "मैं उसे नहीं चाहता, मैं उसे नहीं चाहता," उतना ही

अधिक उससे बँधते जाते हो। तुम्हें करना यह चाहिये कि उस चीज़ को अपने से दूर रखो, उससे सम्बन्ध तोड़ लो, उस पर कम-से-कम ध्यान दो और इस पर भी यदि वह कभी तुम्हारे चिन्तन में आये तो उससे उदासीन और निर्लिप्त रहो।

योग का दबाव पड़ने के कारण जो इच्छाएँ और वासनाएँ ऊपर उभड़ आती हैं उनका अनासक्त रह कर, शान्ति के साथ मुक़ाबला करना चाहिये, यह समझना चाहिये कि ये विजातीय वस्तुएँ हैं अथवा बाह्य जगत् की चीज़ें हैं जिनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्हें भगवान् को सौंप देना चाहिये ताकि भगवान् उनको अपने हाथ में ले लें और उनका रूपान्तर कर दें।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ६-८

दिव्य जीवन का योग

ऐसा लगता है कि तुम्हारे अन्दर पुकार उठी है और शायद तुम योग के लिए तैयार हो; लेकिन योग में विभिन्न पथ हैं और प्रत्येक का भिन्न उद्देश्य और लक्ष्य होता है। सभी पथों में कामनाओं को जीतना, जीवन के सामान्य सम्बन्धों को परे सरका देना और अनिश्चिति से चिरस्थायी निश्चिति में प्रवेश करना सामान्य उद्देश्य होता है। व्यक्ति स्वप्न और निद्रा, भूख और प्यास इत्यादि पर भी विजय प्राप्त करने की कोशिश कर सकता है। लेकिन मेरे योग का यह उद्देश्य कतई नहीं है कि हमारा संसार से या जीवन से कोई लेना-देना नहीं है, न हमें अपनी इन्द्रियों को मार डालना है और न ही उनका एकदम से निषेध करना है। इस योग का उद्देश्य है, 'प्रकाश', 'शक्ति' और भागवत 'सत्य' तथा उसकी गतिशील निश्चितियों को अपने जीवन में उतार कर उसे रूपान्तरित करना। यह योग जीवन से सिकुड़ कर तपस्वियों का जीवन जीना नहीं बल्कि दिव्य जीवन जीना है। अन्य योगों में समाधि में प्रवेश कर, पार्थिव जीवन से पूर्णतया कट कर सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

CWSA खण्ड २९, पृ. १९ **श्रीअरविन्द**

योग के दो मार्ग

योग-साधना के दो मार्ग हैं, एक है तपस्या का और दूसरा है समर्पण का। तपस्या का मार्ग दुष्कर है, इस मार्ग में तुम सर्वथा अपने ऊपर ही निर्भर रहते हो, अपने निजी सामर्थ्य से ही आगे बढ़ते हो। तुम अपनी शक्ति के अनुपात में ही ऊँचे उठते हो और उसी के अनुसार फल पाते हो। इस मार्ग में नीचे गिरने का भय हमेशा लगा रहता है। और एक बार गिरे तो तुम गहरी खाई में जाकर चूर-चूर हो जाओगे और इसका इलाज शायद ही हो सके। परन्तु दूसरा मार्ग, समर्पण का मार्ग, निरापद और निश्चित है। परन्तु पश्चिमवालों को इसमें कठिनाई होती है। उन्हें यह शिक्षा मिली है कि वे उन सभी चीज़ों से डरें और बचें जो उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता पर आँच लायें। व्यक्तित्व की भावना उनकी घुट्टी में मिली होती है। और समर्पण का अर्थ है इस सबका त्याग। दूसरे शब्दों में, जैसा श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, तुम बन्दर के बच्चे और बिल्ली के बच्चे, इन दोनों में से किसी एक के मार्ग का अनुसरण कर सकते हो। बन्दर के बच्चे को इधर-उधर ले जाये जाने के लिए अपनी माँ की छाती से चिपक जाना पड़ता है, उसे अपनी माँ को कस कर पकड़े रहना पड़ता है और यदि कहीं उसकी मुट्ठी ढीली हो जाये तो वह गिर जाता है। दूसरी ओर, बिल्ली का बच्चा अपनी माँ को नहीं पकड़ता, बल्कि माँ ही उसे पकड़े रखती है, इसलिए उसे न कोई भय होता है न उत्तरदायित्व; उसे तो केवल इतना ही करना पड़ता है कि अपनी माता को पकड़ने दे और "माँ-माँ" करता रहे।

इस समर्पण-मार्ग को यदि तुम पूर्ण रूप से और सच्चाई के साथ अपना लो तो कोई गम्भीर कठिनाई या कोई ख़तरा नहीं रहता। प्रश्न केवल सच्चाई का है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो योग-साधना आरम्भ मत करो। मानवीय विषयों में धोखा-धड़ी चल सकती है, किन्तु भगवान् के साथ व्यवहार करने में धोखे के लिए कोई स्थान नहीं है। तुम इस मार्ग पर तभी निरापद होकर यात्रा कर सकते हो जब तुम ऋजु, निष्कपट तथा रोम-रोम तक में खुले हुए हो, जब तुम्हारा एकमात्र ध्येय भगवान् का साक्षात्कार करना, उन्हें पाना और उनके द्वारा परिचालित होना हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ६-७

सच्चा केन्द्र

अपने संकल्प को दृढ़ रखो। अपने उद्धत भागों के साथ ऐसा व्यवहार करो जैसा कहना न मानने वाले बालकों के साथ किया जाता है। उन पर लगातार और ध्यानपूर्वक क्रिया करते रहो, उन्हें उनकी भूल का अहसास दिला दो।

तुम्हारी चेतना की गहराइयों में विराजमान है चैत्य पुरुष, तुम्हारे अन्दर स्थित भगवान् का मन्दिर। यही वह केन्द्र है जिसके चारों ओर तुम्हारी सत्ता के इन सब विभिन्न भागों को, इन सब परस्पर-विरोधी गतियों को जाकर एक हो जाना चाहिये। तुम एक बार चैत्य पुरुष की चेतना को और अभीप्सा को पा लो तो इन सन्देहों और कठिनाइयों को नष्ट किया जा सकता है। इस काम में कम या अधिक समय तो लगेगा, परन्तु अन्त में तुम सफल अवश्य होओगे। तुमने एक बार भगवान् की ओर मुड़ कर कहा है : "मैं आपका होना चाहता हूँ," और भगवान् ने "हाँ" कह दिया है तो समस्त जगत् तुम्हें उनसे अलग नहीं रख सकता। जब केन्द्रीय सत्ता ने समर्पण कर दिया है तो मुख्य कठिनाई दूर हो गयी। बाह्य सत्ता तो एक पपड़ी की तरह है। साधारण लोगों में यह पपड़ी इतनी कठोर और मोटी होती है कि इसके कारण वे अपने अन्दर के भगवान् से सचेतन नहीं हो पाते। परन्तु यदि आन्तर पुरुष ने एक बार, क्षण-भर के लिए ही सही, यह कह दिया है : "मैं यहाँ हूँ और मैं तुम्हारा हूँ", तो मानो एक पुल बँध जाता है और यह बाहरी पपड़ी धीरे-धीरे पतली-से-पतली पड़ती जाती है और एक दिन आयेगा जब दोनों भाग पूर्ण रूप से जुड़ जायेंगे और आन्तर तथा बाह्य दोनों एक हो जायेंगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ९-१०

'भागवत इच्छा' को जानना

तुम पूछोगे कि हम कैसे जानें कि भागवत संकल्प हमसे कब कार्य करवाता है? पर भगवान् के संकल्प को जानना कठिन नहीं है। वह असन्दिग्ध होता है। योग-मार्ग पर बहुत आगे बढ़े बिना ही तुम उसे जान सकते हो। बस, तुम्हें उसकी वाणी को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये, उस सूक्ष्म आवाज़ को जो यहाँ हृदय में होती है। एक बार तुम्हें उसे सुनने का

अभ्यास हो जाये तो फिर यदि तुम भागवत संकल्प के विरुद्ध कुछ भी करते हो तो तुम्हें एक प्रकार की व्याकुलता का अनुभव होता है। और यदि तुम उस ग़लत मार्ग पर हठपूर्वक चलते जाते हो तो तुम बहुत अधिक क्षुब्ध हो जाते हो। परन्तु यदि तुम अपनी इस व्याकुलता के लिए कोई बाह्य भौतिक बहाना ढूँढ़ निकालो और ग़लती करते ही जाओ तो तुम धीरे-धीरे अपनी बोध-शक्ति गँवा दोगे और अन्त में नाना प्रकार की भूलें करने पर भी किसी तरह की व्याकुलता का अनुभव न होगा। परन्तु पहली ही बार, ज़रा-सा क्षोभ होते ही यदि तुम रुक जाओ और अपनी आन्तरिक सत्ता से पूछो : "इस क्षोभ का कारण क्या है?" तो तुम्हें ठीक-ठीक उत्तर अवश्य मिल जाता है और सब कुछ बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। ज़रा-सी उदासी या साधारण-सी व्याकुलता का अनुभव होने पर उसके लिए कोई बाहरी बहाना मत बनाओ। कारण का पता लगाने के लिए जब तुम ठहर कर सोचो तो अपने हृदय को बिलकुल सरल और सच्चा रखो। पहले तुम्हारा मन सुन्दर और देखने में सच्चा लगने वाला कोई कारण बतायेगा। उसे स्वीकार मत करो, बल्कि उसके परे जाकर देखो और पूछो : "इस हरकत के पीछे क्या है? मैं यह क्यों कर रहा हूँ?" अन्त में तुम एक छोटी-सी लहर को, अपने भाव की किसी ग़लत ऐंठन या किसी वक्रता को एक कोने में छिपा हुआ पाओगे जिसके कारण यह कष्ट और क्षोभ हो रहा है।...

जब कोई चीज़ भगवान् के यहाँ से आती है तो तुम आसानी से जान सकते हो। तुम अपने को स्वतन्त्र अनुभव करते हो, अनुद्विग्न और स्वस्थ पाते हो और शान्त रहते हो। परन्तु किसी चीज़ के मिलने पर यदि तुम उस पर टूट पड़ते हो और मारे ख़ुशी के चिल्ला उठते हो : "आख़िरकार यह मुझे मिल ही गयी" तो तुम्हें निश्चयपूर्वक यह समझ लेना चाहिये कि वह चीज़ भगवान् के यहाँ से नहीं आयी। भगवान् के साथ योग और सम्मिलन के लिए प्रधान शर्त है समचित्तता।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ११-१३

बलवान् शरीर और स्नायुओं की आवश्यकता

भगवान् सदा अपने साथ पूर्ण शान्ति और स्थिरता लाते हैं। यह सत्य है कि एक विशेष प्रकार के भक्त साधारणतया एक और ही तरह का दृश्य

उपस्थित करते हैं, ये कूदते-फाँदते हैं, रोते हैं, हँसते-गाते हैं, और यह सब उनके अनुसार भक्ति के आवेश में होता है। परन्तु वास्तव में ये लोग भगवान् में वास नहीं करते। ये अधिकतर प्राणमय जगत् में रहते हैं।...

तुम्हारा शरीर और तुम्हारे स्नायु बलवान् होने चाहियें। तुम्हारी बाह्य सत्ता में समभाव का सुदृढ़ आधार होना चाहिये। यदि तुम्हारे पास यह आधार हो तो तुम भावावेश की सारी दुनिया को अपने अन्दर समा सकते हो और तब भी चीख-चिल्लाकर उसे बाहर निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसका यह अर्थ नहीं कि तुम अपने भावावेश को प्रकट ही नहीं कर सकते, बल्कि यह है कि उसका प्रकाशन तुम एक सुन्दर और सामञ्जस्यपूर्ण रीति से कर सकते हो। रोना, चिल्लाना या नाचते फिरना सदा ही किसी दुर्बलता का प्रमाण है, फिर वह दुर्बलता चाहे प्राण की हो, मन की हो या भौतिक प्रकृति की, क्योंकि इन तीनों भूमिकाओं पर सब कुछ आत्म-सन्तुष्टि के लिए होता है। जो नाचता-कूदता या चिल्लाता है उसको ऐसा भान होता है मानों उसकी उत्तेजना अत्यन्त असाधारण है और उसकी प्राण-प्रकृति इसमें बड़ा मज़ा लेती है।

यदि तुम्हें भागवत अवतरण के दबाव को सहन करना हो तो तुम्हें अत्यन्त बलवान् और शक्तिशाली होना चाहिये, नहीं तो तुम चकनाचूर हो जाओगे। कुछ लोग पूछते हैं कि भगवान् अभी तक क्यों नहीं आये? क्योंकि तुम तैयार नहीं हो। जब एक बूँद पाकर तुम नाचने, गाने और चिल्लाने लगते हो तो समूची चीज़ के उतर आने पर तुम्हारी क्या दशा होगी?

इसीलिए जिनके शरीर, प्राण और मन में बलवान्, सुदृढ़ और विशाल आधार नहीं है, उनसे हम कहते हैं: "खींचो मत," अर्थात्, "भागवत शक्तियों को अपने अन्दर खींच लाने की चेष्टा मत करो, बल्कि स्थिरता और शान्तिपूर्वक प्रतीक्षा करो।" ये लोग अवतरण को सह न सकेंगे। परन्तु जिनमें आवश्यक नींव और आधार है उनसे हम ठीक इसके विपरीत कहते हैं: "अभीप्सा करो और आहरण करो।" ये लोग उसे ग्रहण करने में समर्थ होंगे और फिर भी भागवत शक्तियों के अवतरण से विचलित न होंगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १४-१५

अपने संकल्प को भगवान् के अर्पण करना

तुम्हारे अन्दर संकल्प तो होता ही है, तुम उस संकल्प को भगवान् के अर्पण कर सकते हो। रात को सचेतन रहने के उदाहरण को ही ले लो। यदि तुम निष्क्रिय समर्पण-भाव रखो तो तुम कहोगे : "जब 'भगवान् की इच्छा' होगी कि मैं सचेतन होऊँ, तभी मैं सचेतन होऊँगा।" दूसरी ओर, यदि तुम अपने संकल्प को भगवान् के अर्पण कर दो तो तुम संकल्प करना आरम्भ कर दोगे और कहोगे : "मैं अपनी रातों के बारे में सचेतन होऊँगा।" तुम संकल्प करते हो कि ऐसा होना चाहिये, प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप नहीं बैठ जाते। इस क्रिया में समर्पण का भाव तब आता है जब तुम यह भाव धारण करते और कहते हो : "मैं अपने संकल्प को भगवान् के अर्पण करता हूँ, मेरी तीव्र इच्छा है कि मैं अपनी रातों के बारे में सचेतन होऊँ, मेरे अन्दर ज्ञान नहीं है, 'भगवान् का संकल्प' मेरे लिए इस काम को पूरा करे।" तुम्हारे संकल्प को किसी विशेष कार्य का चुनाव करने के लिए या किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नहीं, बल्कि एक तीव्र अभीप्सा के रूप में, जो अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति पर केन्द्रित हो, स्थिरतापूर्वक कार्य करते जाना चाहिये। यह पहली सीढ़ी है। यदि तुम जागरूक हो उठो, सावधान और सचेतन होओ तो तुम्हें "जो करना चाहिये" उसकी प्रेरणा किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिल जायेगी और तुम्हें तत्काल उसके अनुसार कार्य करने लग जाना चाहिये। हाँ, एक बात याद रखनी चाहिये, समर्पण का अर्थ है कर्मों का जो भी फल हो उसे स्वीकार करना, फिर चाहे वह तुम्हारी आशा के सर्वथा विपरीत ही क्यों न हो। दूसरी ओर, यदि तुम्हारा समर्पण निष्क्रिय है तो तुम कुछ नहीं करोगे, किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करोगे, बल्कि मौज से सो जाओगे और किसी चमत्कार की प्रतीक्षा करोगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. २३-२४

आध्यात्मिक अनुशासन

ध्यान में बिताये गये घण्टे आध्यात्मिक प्रगति का प्रमाण नहीं हैं। आध्यात्मिक प्रगति का प्रमाण तो तब होगा जब यह अवस्था आ जाये कि ध्यान करने के लिए तुम्हें किसी प्रकार का प्रयास ही न करना पड़े, ध्यान

को रोकने के लिए भले ही प्रयास की आवश्यकता हो। तब ऐसी अवस्था हो जाती है कि ध्यान को रोकना कठिन हो जाता है; भगवान् के चिन्तन को रोकना, साधारण चेतना में नीचे उतरना कठिन हो जाता है। जब भगवान् में एकाग्रता तुम्हारे जीवन की परम आवश्यकता बन जाये, जब तुम उसके बिना रह ही न सको, तुम चाहे किसी काम में क्यों न लगे रहो, जब यह अवस्था स्वाभाविक रूप से रात-दिन बनी रहे—तब समझना चाहिये कि निश्चित रूप से तुम्हारी प्रगति हुई है, तुमने वास्तविक उन्नति की है। चाहे तुम ध्यान लगाकर बैठो या घूमो-फिरो और काम-काज करो, जिस बात की तुमसे अपेक्षा की जाती है वह है चेतना। यही एकमात्र आवश्यकता है—भगवान् के बारे में सदा-सर्वदा सचेतन रहना।

परन्तु क्या ध्यान में बैठना अनिवार्य नियम नहीं है और क्या इससे भगवान् के साथ अधिक प्रगाढ़ और एकाग्र सायुज्य नहीं आता?

हो सकता है। परन्तु हमें कोरा नियम अभीष्ट नहीं है। हम चाहते हैं कि प्रत्येक कर्म करते समय, प्रत्येक क्षण, हमारी समस्त क्रियाओं और प्रत्येक गति में, हमारी चेतना भगवान् में केन्द्रित रहे। यहाँ कुछ साधक ऐसे हैं जिनसे ध्यान करने को कहा गया है, किन्तु ऐसे साधक भी हैं जिन्हें किसी प्रकार का भी ध्यान करने को नहीं कहा गया। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि ध्यान न करने वालों की प्रगति नहीं हो रही है। वे भी एक साधना करते हैं, किन्तु वह दूसरे प्रकार की साधना है। भक्ति और आन्तरिक उत्सर्ग के साथ कर्म करना, कार्य करना भी आध्यात्मिक साधना है। अन्तिम उद्देश्य यह है कि केवल ध्यान में ही नहीं, बल्कि प्रत्येक अवस्था में, जीवन की प्रत्येक क्रिया में भगवान् के साथ सतत एकता का अनुभव किया जाये।

कुछ लोग ऐसे हैं जो जब ध्यान में बैठते हैं तो एक ऐसी अवस्था में चले जाते हैं जिसे वे बहुत ही सुन्दर और आनन्दमयी समझते हैं। वे इस अवस्था में आत्मतुष्ट हो बैठे रहते हैं और जगत् को भूल जाते हैं; किन्तु यदि उनके ध्यान में कोई बाधा पहुँचे तो वे उस अवस्था में से क्षुब्ध और क्रुद्ध होकर निकलते हैं, क्योंकि उनके ध्यान में बाधा पड़ी। यह किसी आध्यात्मिक प्रगति या साधना का लक्षण नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी हैं

जो ऐसा आचरण करते हैं मानों उन्हें लगता हो कि ध्यान भगवान् का कर्ज़ा चुकाने के लिए है। ये उन लोगों की तरह हैं जो सप्ताह में एक बार गिरजाघर हो आते हैं और समझते हैं कि उन्होंने भगवान् का सारा पावना चुका दिया।

यदि तुम्हें ध्यान करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है तो अभी तुम आध्यात्मिक जीवन जी सकने की अवस्था से बहुत दूर हो। जब ध्यानावस्था से बाहर निकलने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता हो तब, असल में, तुम्हारा ध्यान इस बात का संकेत हो सकेगा कि तुम आध्यात्मिक जीवन जी रहे हो।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. २४-२६

जब तुम योग-मार्ग पर आओ तो तुम्हें अपने मन के महलों और प्राण की मचानों के ढहाये जाने के लिए तैयार रहना चाहिये। तुम्हें श्रद्धा के सिवाय किसी भी सहारे के बिना हवा में अधर लटकने के लिए तैयार रहना चाहिये। तुम्हें अपने भूतकाल के व्यक्तित्व को और उसकी आसक्तियों को एकदम भूल जाना होगा, उसे अपनी चेतना में से निकाल बाहर करना होगा तथा एक ऐसा नया जन्म लेना होगा जो समस्त बन्धनों से मुक्त हो। तुम क्या थे इसकी चिन्ता न करो, जो बनने की अभीप्सा करते हो केवल उसी का चिन्तन करो; जिस सिद्धि को प्राप्त करना चाहते हो केवल उसी में तन्मय हो जाओ। मृत भूतकाल की ओर से मुँह मोड़ लो और सीधे भविष्य की ओर देखो। तुम्हारा धर्म, देश, परिवार वहीं है; वह है स्वयं "भगवान्"।

'श्रीमातृवाणी' *खण्ड ३, पृ. ९५*

पथ पर बढ़ना

समर्पण के द्वारा तादात्म्य

योग का अर्थ है, भगवान् से सायुज्य, और यह सायुज्य आता है आत्मदान द्वारा—भगवान् के प्रति आत्मदान जो इसका आधार है। आरम्भ में तुम यह आत्मदान प्रचलित रूप से शुरू करते हो, मानों सदा के लिए तुम्हारा यह काम पूरा हो गया; तुम कहते हो : "मैं भगवान् का सेवक हूँ; मेरा जीवन पूर्ण रूप से भगवान् को दिया गया है, मेरे सब प्रयत्न 'दिव्य जीवन' की प्राप्ति के लिए हैं।" पर यह तो केवल पहला क़दम है; क्योंकि इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस संकल्प के बाद भी, इस निश्चय के बाद भी कि तुम अपने समग्र जीवन को भगवान् के अर्पण कर दोगे, तुम्हें यह बात अपने जीवन में प्रत्येक क्षण याद रखनी होगी और प्रत्येक ब्योरे में चरितार्थ करनी होगी। तुम्हें प्रत्येक पग पर यह अनुभव होना चाहिये कि तुम भगवान् के हो; तुम्हें हमेशा यह अनुभूति होनी चाहिये कि तुम जो कुछ भी सोचते या करते हो, उसमें हमेशा 'भागवत चेतना' ही तुम्हारे द्वारा कार्य करती है। अपनी कह सकने के लिए अब तुम्हारे पास कोई चीज़ नहीं होती; हर चीज़ भगवान् के यहाँ से आयी हुई अनुभव करो और उसे उसके मूल स्रोत की भेंट कर दो। इस अनुभूति को प्राप्त कर लेने पर अत्यन्त सामान्य-से-सामान्य चीज़ जिस पर तुम ध्यान नहीं देते या जिसकी साधारणतः परवाह नहीं करते, वह भी अकिंचन या तुच्छ नहीं रह जाती, वह अर्थपूर्ण हो जाती है और दूर-दूर तक देख सकने के लिए एक विशाल क्षितिज खोल देती है।

प्रचलित रूप से किये गये आत्मदान को जीवन के प्रत्येक ब्योरे में लाने का तरीक़ा यह है : हमेशा भगवान् की उपस्थिति में ही निवास करो; इस अनुभूति में रहो कि यह उपस्थिति ही तुम्हारी प्रत्येक क्रिया को गति देती है और जो कुछ तुम करते हो उसे वही कर रही है। अपने सभी क्रिया-कलापों को इसी को समर्पित कर दो, केवल प्रत्येक मानसिक क्रिया, प्रत्येक विचार और भाव को ही नहीं, बल्कि अत्यन्त साधारण और बाह्य क्रियाओं को भी; उदाहरणार्थ, भोजन भी उसी को अर्पित कर दो; जब तुम भोजन करो तो तुम्हें अनुभव होना चाहिये कि इस क्रिया में तुम्हारे द्वारा भगवान् ही

भोजन कर रहे हैं। जब तुम इस प्रकार अपनी समस्त प्रवृत्तियों को एक 'अखण्ड जीवन' में एकत्रित कर सकोगे तब तुम्हारे अन्दर भेदभाव की जगह एकता होगी। तब यह अवस्था न रहेगी कि तुम्हारी प्रकृति का एक भाग तो भगवान् को समर्पित हो और बाक़ी भाग अपनी साधारण वृत्तियों में पड़े रहें और साधारण चीज़ों में लिप्त रहें, बल्कि तब तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन को भगवान् अपने हाथ में ले लेंगे और क्रमशः तुम्हारी प्रकृति का सम्पूर्ण रूपान्तर होने लगेगा।

पूर्ण समर्पण की आवश्यकता

पूर्ण योग में ब्योरे के साथ सम्पूर्ण जीवन का रूपान्तर करना होगा, उसे दिव्य बनाना होगा। यहाँ कोई चीज़ नगण्य या तुच्छ नहीं है। तुम यह नहीं कह सकते : "जब मैं ध्यान करता हूँ, दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता हूँ या ऐसे वार्तालाप सुनता हूँ तब तो मैं भागवत ज्योति की ओर खुलने और उसे बुलाने की अवस्था में रहूँगा, किन्तु जब मैं टहलने जाऊँ या किसी मित्र से मिलूँ तब मैं इन बातों को भुला सकता हूँ।" इस भाव को बनाये रखने का अर्थ होगा कि तुम्हारा रूपान्तर कभी न हो सकेगा और तुम्हें भगवान् के साथ सच्चा सायुज्य कभी प्राप्त न होगा। तुम्हारे सदा दो भाग बने रहेंगे; अधिक-से-अधिक तुम्हें इस महत्तर जीवन की कुछ झाँकियाँ मिल सकेंगी। हो सकता है कि ध्यान के समय या तुम्हारी आन्तर चेतना में कतिपय अनुभूतियाँ और साक्षात्कार मिल जायें, पर तुम्हारा स्थूल शरीर और तुम्हारा बाह्य जीवन तो रूपान्तरित हुए बिना ही रह जायेगा। जिस आन्तर प्रकाश का शरीर और बाह्य जीवन पर कोई असर नहीं होता वह किसी विशेष उपयोग का नहीं होता, क्योंकि वह इससे जगत् को जैसा-का-तैसा छोड़ देता है। ...

इस प्रकार का आदर्श उनके लिए भले ठीक हो जो इसे चाहते हैं, किन्तु यह हमारा योग नहीं है। क्योंकि हम इस जगत् पर तथा इसकी समस्त गतियों पर भगवान् की विजय चाहते हैं और यहीं, इस पार्थिव जगत् में ही भगवान् की उपलब्धि चाहते हैं। परन्तु यदि हम भगवान् के राज्य के लिए इच्छुक हों तो हम जो कुछ हैं, जो कुछ हमारे पास है और जो कुछ हम करते हैं, उस सबको हमें भगवान् के अर्पण कर देना चाहिये। यह सोचने

से काम नहीं चलेगा कि कोई बात गौण है अथवा बाह्य जीवन और उसकी आवश्यकताओं से दिव्य जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि हम ऐसा मानें तो हम वहीं पड़े रहेंगे जहाँ सदा से पड़े रहे हैं और इस बाह्य जगत् पर कभी विजय नहीं मिलेगी, उसमें कोई चिरस्थायी काम न हो पायेगा।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. २७-२९

सतत स्मरण

योग-साधना के आरम्भ में बहुत सम्भव है कि तुम बहुधा भगवान् को भूल जाओ। परन्तु सतत अभीप्सा के द्वारा तुम स्मृति को बढ़ाते और विस्मृति को घटाते हो। परन्तु यह किसी कठोर तपस्या या कर्तव्य के रूप में नहीं करना चाहिये, यह साधना प्रेम और आनन्द की एक सहज अभिव्यक्ति होनी चाहिये। तब शीघ्र ही एक ऐसी अवस्था आ जायेगी कि अगर तुम प्रत्येक क्षण और प्रत्येक कार्य में भगवान् की उपस्थिति का अनुभव न करो तो तुम तुरत अपने-आपको अकेला, उदास और दुःखी अनुभव करने लगोगे।

जब भी तुम्हें यह दिखायी दे कि तुम भगवान् की उपस्थिति का अनुभव किये बिना ही कोई काम कर सकते हो और फिर भी चैन से रह सकते हो तभी तुम्हें समझना चाहिये कि तुम्हारी सत्ता के उस भाग का अभी तक समर्पण नहीं हुआ है। यह तो साधारण मानव समाज का तरीक़ा है जिसे भगवान् की कोई ज़रूरत महसूस नहीं होती। परन्तु 'दिव्य जीवन' के साधक का मार्ग सर्वथा भिन्न है। और जब भगवान् के साथ तुम्हारी पूर्ण रूप से एकता हो जाये तो, यदि क्षण-भर के लिए भी भगवान् अपने-आपको तुमसे अलग कर लें तो तुम मृतप्राय हो जाते हो। क्योंकि तब भगवान् ही तुम्हारे प्राणों के प्राण, तुम्हारा समग्र अस्तित्व, तुम्हारा एकमात्र और सम्पूर्ण सहारा होते हैं। तब यदि भगवान् न हों तो तुम्हारे पास कुछ रह ही नहीं जाता।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ३१-३२

शान्ति, समता, निष्कपटता और श्रद्धा

तुम जितने अधिक शान्त रहोगे उतने ही अधिक शक्तिशाली बनोगे। सभी आध्यात्मिक शक्तियों का सुदृढ़ आधार है समचित्तता। किसी चीज़

को अपना सन्तुलन न बिगाड़ने दो : तब तुम हर प्रकार के आक्रमण का प्रतिरोध कर सकोगे। इसके अतिरिक्त, यदि तुम्हारे पास यथेष्ट विवेक शक्ति हो और तुम विरोधी सुझावों को पास आते ही देख और पकड़ सको तो उन्हें निकाल बाहर करना और भी सहज हो जाता है; किन्तु कभी-कभी ये अलक्षित रूप से घुस आते हैं और तब इनसे युद्ध करना अधिक कठिन होता है। जब ऐसा हो तो तुम्हें स्थिर होकर बैठ जाना चाहिये और शान्ति तथा गभीर आन्तरिक स्थिरता का आवाहन करना चाहिये। अपने-आपको दृढ़ बनाये रखो, श्रद्धा तथा विश्वास के साथ भगवान् को पुकारो; यदि तुम्हारी अभीप्सा शुद्ध और स्थिर है तो तुम अवश्य सहायता प्राप्त करोगे।

विरोधी शक्तियों के आक्रमण अपरिहार्य हैं, तुम्हें इनको अपने मार्ग में परीक्षा के रूप में लेना और इन अग्नि-परीक्षाओं में से साहस के साथ गुज़रना चाहये। यह संघर्ष कठिन हो सकता है किन्तु जब तुम इसे पार करके बाहर निकलोगे तो देखोगे कि तुमने कुछ प्राप्त किया है, तुम एक क़दम आगे बढ़े हो। विरोधी शक्तियों के होने की भी एक आवश्यकता है। ये तुम्हारे निश्चय को अधिक दृढ़ और तुम्हारी अभीप्सा को अधिक स्पष्ट बनाती हैं।

फिर भी, यह सत्य है कि इनका अस्तित्व इसीलिए है कि तुमने इनके अस्तित्व के लिए कारण दे रखा है। जब तक तुम्हारे आन्दर कोई भी चीज़ ऐसी हो जो इनकी पुकार का उत्तर देती हो तब तक इनका हस्तक्षेप करना सर्वथा उचित है। यदि तुम्हारा कोई भी भाग इन्हें प्रत्युत्तर न दे, यदि तुम्हारी प्रकृति के किसी भी अंग पर इनका वश न हो तो ये शक्तियाँ लौट जायेंगी और तुम्हें छोड़ देंगी। परन्तु कुछ भी क्यों न हो, ये तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति को रोक या अटका नहीं सकतीं।

विरोधी शक्तियों से युद्ध में तुम्हारी पराजय एक ही कारण से हो सकती है और वह है भगवान् की सहायता में सच्चे विश्वास का न होना। अभीप्सा की सच्चाई आवश्यक सहायता को सदा ले ही आती है। शान्त आवाहन, यह विश्वास कि सिद्धि की ओर आरोहण में तुम कभी अकेले नहीं रहते और यह श्रद्धा कि जब कभी किसी सहायता की आवश्यकता होगी तो वह सदा उपस्थित होती है—तुम्हें सहज और निरापद रूप से पार लगा देंगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ३९-४०

विचार-शक्ति

विचार आकार होते हैं और इनका अपना व्यक्तिगत जीवन होता है, स्रष्टा से सर्वथा स्वतन्त्र। स्रष्टा जब इन विचारमय आकारों को जगत् में भेज देता है तो ये अपने अस्तित्व के प्रयोजन को पूरा करने के लिए जगत् में विचरण करने लगते हैं। जब तुम किसी व्यक्ति के विषय में विचार करते हो तो तुम्हारा विचार एक आकार धारण करके उसे खोजने के लिए निकल पड़ता है; और यदि तुम्हारे विचार के पीछे कोई संकल्प लगा हो तो तुम्हारे अन्दर से निकला हुआ यह विचारमय आकार अपने-आपको चरितार्थ करने की चेष्टा करता है। उदाहरण के लिए, मान लो कि तुम्हारी यह तीव्र इच्छा है कि अमुक व्यक्ति तुम्हारे पास आये, और इच्छा के इस प्राणमय आवेग के साथ-साथ यदि तुम्हारे बनाये हुए मनोमय आकार के साथ एक ज़ोरदार कल्पना भी जुड़ी हो तो तुम कल्पना करोगे : "यदि वह आये तो ऐसा होगा या वैसा होगा।" कुछ काल के बाद तुम इस विचार को सर्वथा त्याग देते हो, लेकिन तुम नहीं जानते कि तुम्हारे भूल जाने के बाद भी तुम्हारे विचार का अस्तित्व बना हुआ है। वास्तव में, अब भी उसका अस्तित्व है और वह तुमसे सर्वथा स्वतन्त्र रह कर अपना काम कर रहा है, और उसे अपने काम से वापस बुलाने के लिए एक महान् शक्ति की आवश्यकता होगी। वह उस विचार से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति के वातावरण में प्रविष्ट होकर अपना काम करने लगता है और उसमें तुम्हारे पास आने की इच्छा उत्पन्न करता है। और यदि तुम्हारे विचारमय आकार में कार्य-सिद्धि के लिए पर्याप्त इच्छा-शक्ति है, यदि उस आकार का गठन भली-भाँति हुआ है तो वह अपना काम पूरा करेगा। परन्तु इस आकार-रचना और उसकी सिद्धि के बीच कुछ समय लगता है और यदि इस बीच तुम्हारा मन और ही चीज़ों में लगा हो, तो जब तक तुम्हारा यह भूला हुआ विचार कार्य में परिणत होगा तब तक हो सकता है कि तुम्हें यह याद भी न रहे कि तुमने ही इसे आश्रय दिया था; सम्भव है तुम्हें यह पता ही न हो कि तुम्हीं ने इसे क्रियान्वित होने के लिए प्रेरित किया था और आज जो परिणाम आया है वह तुम्हारे ही कारण है। और बहुधा यह भी होता है कि जब इन विचारमय आकारों का फल प्राप्त होता है तब तुम उस विषय की इच्छा या परवाह भी नहीं करते। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें इस प्रकार

की रचना-शक्ति बहुत ही बलवान् होती है और उनकी मनोरचनाएँ सदा कार्यान्वित होती हैं; लेकिन चूँकि उनकी मनोमय और प्राणमय सत्ता अच्छी तरह सधी हुई नहीं होती, इसलिए वे कभी इस चीज़ की इच्छा करते हैं तो कभी उस चीज़ की, अतः उनकी ये भिन्न-भिन्न अथवा विरोधी रचनाएँ और उनके परिणाम एक-दूसरे से टकराते और भिड़ते रहते हैं। और इन लोगों को आश्चर्य होता है कि उनके जीवन में इतनी अधिक अव्यवस्था और असामञ्जस्य क्यों है! वे इस बात का अनुभव नहीं करते कि उनके अपने विचारों और इच्छाओं ने ही उनके इर्द-गिर्द ऐसी परिस्थितियाँ बनायी हैं जो उन्हें इतनी बेमेल और परस्पर-विरोधी जान पड़ती हैं और उनके जीवन को प्रायः असह्य-सा बना देती हैं।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ५७-५८

योग का अनिवार्य आधार

बहुतों के पास विरोधी अवस्थाएँ इसलिए आती हैं कि उनकी प्रकृति के कमज़ोर स्थानों की परीक्षा हो जाये। योग-मार्ग पर स्वतन्त्रतापूर्वक चल सकने से पहले जिस वस्तु की तुम्हारे अन्दर अच्छी तरह स्थापना हो जानी चाहिये और जो योग के लिए अनिवार्य आधार है, वह है समता या समचित्तता। स्वाभाविक है कि इस दृष्टि से, सभी विघ्न ऐसी परीक्षा के रूप होते हैं जिनमें तुम्हें सफल होना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त, तुम्हारी मानसिक रचनाओं ने जो सीमाएँ तुम्हारे चारों ओर बना ली हैं उन्हें तोड़ने के लिए भी इनकी आवश्यकता है, ये सीमाएँ 'दिव्य ज्योति' और 'सत्य' के प्रति तुम्हारे उद्घाटन को रोकती हैं। सारा मनोमय जगत्, जिसमें तुम रहते हो, सीमित है, तुम्हें उसकी सीमाओं का ज्ञान या अनुभव भले न हो, और यह आवश्यक है कि कोई चीज़ आये और इस भवन को, जिसके अन्दर तुम्हारे मन ने अपने-आपको बन्द कर रखा है, तोड़ डाले और उसे बन्धन-मुक्त कर दे। उदाहरणार्थ, तुम्हारे कुछ बँधे हुए नियम, विचार या सिद्धान्त होते हैं जिन्हें तुम सर्वोपरि महत्त्व देते हो; अधिकतर, ये किन्हीं नैतिक सिद्धान्तों अथवा उपदेशों के आधार पर होते हैं, जैसे "अपने माता-पिता का आदर करो" *(मातृदेवो भव, पितृदेवो भव)* या "हिंसा नहीं करनी चाहिये" *(अहिंसा परमो धर्मः)* इत्यादि। प्रत्येक मनुष्य की अपनी धुन होती

है अथवा कोई दकियानूसी विश्वास। प्रत्येक मनुष्य समझता है कि दूसरे लोग जिन पूर्वाग्रहों से बँधे हुए हैं उनसे वह सर्वथा मुक्त है और वह उन्हें बिलकुल मिथ्या समझने के लिए भी तैयार रहता है। परन्तु वह सोचता है कि उसका अपना मतवाद दूसरों की तरह नहीं है, वह तो उसके लिए बिलकुल सत्य है, वास्तविक सत्य। मन के बनाये हुए किन्हीं नियमों में आसक्ति होना इस बात का सूचक है कि अब भी कहीं पर अन्धापन छिपा हुआ है। उदाहरण के लिए, इस सार्वजनिक अन्ध-विश्वास को ले लो जो समस्त जगत् में फैला हुआ है कि संन्यास और योग एक ही हैं। यदि तुम योगी अथवा योगिनी कह कर किसी का परिचय दो तो तुरत उस व्यक्ति के बारे में लोग यही कल्पना करने लगेंगे कि वह व्यक्ति कोई ऐसा होगा जो खाता नहीं अथवा सारे दिन एक आसन पर बिना हिले-डुले बैठा रहता है, किसी कुटिया में अत्यन्त दरिद्रतापूर्वक रहता है, जिसने अपना सब कुछ दे दिया है और अपने लिए कुछ भी नहीं रखा। जब किसी आध्यात्मिक मनुष्य के सम्बन्ध में किसी से कुछ कहा जाता है तो निन्यानबे प्रतिशत लोगों के मन में उस व्यक्ति के सम्बन्ध में इसी प्रकार का चित्र खिंच जाता है; इनके लिए आध्यात्मिकता का एकमात्र सबूत है दरिद्रता तथा सुखद या आरामदेह चीज़ों से परहेज़। यह एक मानसिक रचना है और यदि तुम आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार और अनुसरण करने के लिए स्वतन्त्र होना चाहते हो तो इसे नष्ट करना होगा। कारण, आध्यात्मिक जीवन में तुम सच्ची अभीप्सा के साथ प्रवेश करते हो और चाहते हो कि तुम अपनी चेतना और जीवन में भगवान् से भेंट करो तथा उनका साक्षात्कार करो; तब तुम एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचते हो जिसे किसी तरह भी कुटिया नहीं कहा जा सकता और वहाँ तुम्हारी एक ऐसे आध्यात्मिक पुरुष से भेंट होती है जो सुखमय जीवन व्यतीत कर रहा है, सब कुछ खाता है, उसके चारों ओर सुन्दर या अमीरी चीज़ों का ठाठ है, जो कुछ उसके पास है उसे वह ग़रीबों को बाँट नही देता, बल्कि लोग जो भेंट चढ़ाते हैं उसे स्वीकार करता और उसका उपभोग करता है। यह देख कर तुम अपने बँधे हुए मानसिक नियम के अनुसार तुरत घबरा जाते और चिल्ला उठते हो : "क्यों, यह सब क्या है? मैंने तो सोचा था कि मेरी भेंट किसी योगी से होगी!" इस मिथ्या धारणा को तोड़ना ही होगा, मिटाना ही होगा। यह

धारणा विलीन हो जाये तो तुम्हें कुछ ऐसी चीज़ प्राप्त होगी जो तुम्हारे वैराग्य के संकीर्ण सिद्धान्त से बहुत श्रेष्ठ होगी, तुम्हारा पूर्ण आत्मोद्घाटन हो सकेगा जिसके फलस्वरूप तुम्हारी सत्ता मुक्त रहेगी। यदि तुम्हें कोई चीज़ प्राप्त होती हो तो उसे स्वीकार करो और यदि उसी चीज़ को छोड़ देना हो तो उसी तत्परता के साथ छोड़ दो। चीज़ें आयें तो उन्हें स्वीकार करो और चली जायें तो जाने दो, लेते और छोड़ते समय समता की वही मुस्कान बनी रहे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ६०-६२

क्षोभ और जल्दबाज़ी से पिण्ड छुड़ाना

यदि तुम 'भागवत चेतना' के साथ एक हो तो फिर किसी कार्य में चाहे मनुष्य की कालगणना के हिसाब से एक हज़ार वर्ष लगें या केवल एक वर्ष, इसका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता; क्योंकि, उस अवस्था में तुम मानव प्रकृति की अवस्थाओं को बाहर छोड़ भागवत प्रकृति की अनन्तता और शाश्वतता में प्रवेश कर जाते हो। तब तुम जल्दबाज़ी की व्याकुलता से बच जाते हो जिससे मनुष्य जकड़े रहते हैं, क्योंकि वे काम को पूरा होते हुए देखना चाहते हैं। उद्वेग, उतावलेपन और बेचैनी से कुछ नहीं बनता। यह समुद्र पर फेन है; यह एक महान् उपद्रव है जो अपने-आपमें समाप्त हो जाता है। मनुष्यों को लगता है कि निरन्तर दौड़-धूप और कूद-फाँद किये बिना, कर्मण्यता के आवेश में उन्मत्त होकर कुछ-न-कुछ जोड़-तोड़ लगाये बिना वे कुछ कर ही नहीं रहे। यह समझना एक भ्रम है कि इन तथाकथित हलचलों से चीज़ें बदल सकती हैं। यह महज़ एक कटोरे को हाथ में उठा कर उसमें जल को थपेड़ना है। इस क्रिया से जल इधर-उधर अवश्य हिलेगा, किन्तु तुम्हारे इतने थपेड़े खाकर भी वह बदलेगा नहीं। कर्म का यह भ्रम मानव प्रकृति के सबसे बड़े भ्रमों में से एक है। इससे प्रगति में बाधा पहुँचती है, क्योंकि इस भ्रम में पड़ कर तुम सदा किसी उत्तेजित काम में दौड़ पड़ने की आवश्यकता का अनुभव करने लगते हो। काश, तुम इस भ्रम को जान जाओ और यह देख सको कि यह सब कितना निरर्थक है, कि इससे कुछ भी नहीं बदलता! इसके द्वारा तुम्हें कहीं कुछ नहीं प्राप्त हो सकता! जो इस प्रकार दौड़-धूप करते हैं वे ऐसी शक्तियों के

खिलौने होते हैं जो उन्हें अपने आमोद के लिए नचाया करती हैं। और ये शक्तियाँ भी उत्तम कोटि की नहीं होतीं।

जगत् में जो कुछ भी किया गया है वह उन थोड़े-से लोगों के द्वारा ही किया गया है जो क्रियाओं के परे नीरवता में स्थित रह सके हैं; क्योंकि ऐसे लोग ही भागवत शक्ति के उपकरण होते हैं। ये सक्रिय प्रतिनिधि और सचेतन उपकरण हैं; ये उन शक्तियों को उतार लाते हैं जो जगत् का परिवर्तन करती हैं। कार्य इसी प्रकार किया जा सकता है, न कि चञ्चल कर्मण्यता द्वारा। शान्ति, स्थिरता और नीरवता की अवस्था में ही जगत् का निर्माण हुआ था और जब कभी किसी सच्ची चीज़ की रचना करनी होगी तो उसे शान्ति, नीरवता और स्थिरता की अवस्था में ही करना होगा। यह समझना अज्ञान है कि जगत् के लिए कुछ कर सकने के लिए तरह-तरह की निरर्थक बातों के लिए परिश्रम करना और सुबह से शाम तक दौड़धूप करना आवश्यक है।

एक बार तुम इन चक्कर खाती हुई शक्तियों से पीछे हट कर शान्त क्षेत्रों में पहुँच जाओ तो देखोगे कि यह कितना बड़ा भ्रम है। तब तुम्हें मानवजाति अन्धे प्राणियों के समूह-सी लगेगी जो यह जाने बिना कि वे क्या कर रहे हैं या क्यों कर रहे हैं, इधर-उधर दौड़-धूप करते फिरते हैं और एक-दूसरे के साथ केवल टकराते और ठोकरें खाते रहते हैं। और लोग इसी को कर्म और जीवन कहते हैं! यह थोथी हलचल है, कर्म नहीं, सत्य जीवन भी नहीं।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ७६-७७

डर से पीछा छुड़ाना

एक बार जब तुम योग-मार्ग में प्रवेश करते हो तो तुम्हें समस्त भयों से मुक्त हो जाना चाहिये—अपने मन के भयों से, अपने प्राण के भयों से, एक-एक कोषाणु तक में भरे शरीर के भयों से मुक्त होना चाहिये। योग-मार्ग में तुम्हें जो ठोकरें खानी पड़ती हैं और आघात सहने पड़ते हैं उनका एक उपयोग यह भी है कि वे तुम्हें समस्त भयों से मुक्त कर दें। भय के कारण उस समय तक तुम पर बारम्बार हमला करते रहते हैं जब तक तुम इस योग्य न हो जाओ कि उनके सामने स्वतन्त्र, उदासीन, अछूते

और शुद्ध होकर खड़े रह सको। किसी को समुद्र का भय होता है, कोई आग से डरता है। हो सकता है कि जो व्यक्ति अग्नि से डरता है उसे एक के बाद एक अनेकों भीषण अग्निकाण्डों का सामना करना पड़े, यहाँ तक कि वह इतना अभ्यस्त हो जाये कि इस काण्ड से उसके शरीर का एक भी कोषाणु तक न काँपे। जिस चीज़ से तुम्हारे अन्दर त्रास पैदा होता हो वह उस समय तक बारम्बार आती रहती है जब तक कि त्रास बिलकुल बन्द न हो जाये। जो रूपान्तरित होना चाहता है और जो इस योग-मार्ग का साधक है उसे पूरी तरह से भयमुक्त होना ही पड़ेगा, उसे ऐसा बनना पड़ेगा कि कोई, किसी प्रकार की चीज़ उसे उसकी प्रकृति के किसी भी भाग में छू या हिला न सके।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ६५-६६

ये अनुभव किसी भी प्रकार के क्यों न हों, तुम्हें भय को कभी स्थान न देना चाहिये; तुम्हें यह अटल विश्वास रखना और अनुभव करना चाहिये कि जो कुछ हो रहा है वह वही है जो होने को था। एक बार तुमने इस मार्ग को चुन लिया है तो तुम्हें इस चुनाव के समस्त परिणामों को भी बहादुरी के साथ स्वीकार करना चाहिये। परन्तु यदि तुम पहले तो चुनो और फिर पीछे हटो, और फिर चुनो और फिर दुबारा पीछे हटो, सदा डगमगाते रहो, सदा सन्देह करते रहो, सदा डरते रहो तो तुम अपनी सत्ता में असामञ्जस्य की सृष्टि कर लेते हो, और यह असामञ्जस्य केवल तुम्हारी प्रगति को ही नहीं रोकता, बल्कि तुम्हारे मन और प्राण में नाना प्रकार के क्षोभ और शरीर में तकलीफ़ और रोग पैदा कर सकता है।

'श्रीमातृवाणी' *खण्ड ३, पृ. १०३*

द्रुतगामी विकास

चैत्य सत्ता

चैत्य जगत् अथवा उसकी चेतना की भूमिका जगत् का वह भाग है, चैत्य पुरुष हमारी सत्ता का वह भाग है जो सदा 'भागवत चेतना' के प्रभाव में रहता है; विरोधी शक्तियाँ इस पर किसी प्रकार की ज़रा-सी क्रिया भी नहीं कर सकतीं। यह सामञ्जस्य का जगत् है और इसमें प्रत्येक वस्तु प्रकाश से प्रकाश की ओर तथा प्रगति से प्रगति की ओर गति करती है। यह भागवत चेतना का, व्यक्ति में रहने वाली दिव्य आत्मा का निवास-स्थान है। यह प्रकाश का, सत्य का, ज्ञान का, सौन्दर्य का और सामञ्जस्य का केन्द्र है जिसे दिव्य आत्मा अपनी उपस्थिति के द्वारा हममें से हर एक के अन्दर थोड़ा-थोड़ा करके बनाती रहती है। यह भागवत चेतना का एक अभिन्न अंग है और उसी के द्वारा प्रभावित, गठित और परिचालित होता है। यही तुममें से हर एक के अन्दर वह गभीर आन्तर सत्ता है जिसे अपने अन्दर रहने वाले भगवान् के सम्पर्क में आने के लिए तुम्हें ढूँढ़ना होगा। यह 'भागवत चेतना' और तुम्हारी बाह्य चेतना के बीच सम्बन्ध जोड़ती है; आन्तर जीवन को बनाती है, और बाह्य प्रकृति में 'भागवत संकल्प' के अनुसार व्यवस्था और नियम की अभिव्यक्ति करती है। यदि तुम अपने अन्दर रहने वाले चैत्य पुरुष से अपनी बाह्य चेतना में अवगत होकर उसके साथ एक हो जाओ तो तुम शुद्ध 'शाश्वत चेतना' को पा सकोगे और उसमें रह सकोगे; और साधारण मनुष्य की तरह सदा अज्ञान द्वारा चालित होने के बदले, तुम अपने अन्दर एक शाश्वत ज्योति और ज्ञान की उपस्थिति का अनुभव करोगे, और तुम इसी को आत्म-समर्पण करोगे और इसी को पूर्ण रूप से आत्म-निवेदन करके, इसी के द्वारा प्रत्येक कर्म में चालित होते रहोगे।

क्योंकि, चैत्य पुरुष तुम्हारा वह भाग है जो भगवान् को पहले ही अर्पित हो चुका है। इसका जो प्रभाव तुम्हारी चेतना की अत्यन्त बाह्य और स्थूल सीमाओं पर क्रमशः फैल रहा है, वही तुम्हारी सम्पूर्ण प्रकृति का रूपान्तर करेगा। यहाँ किसी प्रकार के अन्धकार को स्थान नहीं है, यह तुम्हारा ज्योतिर्मय भाग है। अधिकतर मनुष्य अपने अन्दर रहने वाले इस भाग से अनभिज्ञ हैं। योग-साधना तुम्हें इस भाग के प्रति सचेतन बनाने के

लिए है, ताकि तुम्हारे रूपान्तर की प्रक्रिया, शताब्दियों में पूर्ण होने वाले एक मन्द और लम्बे प्रयास के बदले एक ही जीवन अथवा कुछ ही वर्षों में पूरी होने वाली बन जाये।

चैत्य पुरुष वह है जो मृत्यु के बाद भी बना रहता है, क्योंकि यह तुम्हारा शाश्वत व्यक्तित्व है और यही चेतना को जन्म-जन्मान्तर में आगे बढ़ाता रहता है।

चैत्य पुरुष तुम्हारे अन्दर स्थित सच्चे और भागवत व्यक्ति का वास्तविक व्यक्तित्व है।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ७१-७२

प्रेम की शक्ति

जिस भागवत प्रेम के सम्बन्ध में मैं कह रही हूँ वह ऐसा 'प्रेम' है जो यहाँ इस भौतिक पृथ्वी पर, जड़-प्रकृति में अभिव्यक्त हो रहा है, किन्तु यदि उसे अवतरित होना है तो उसे मानव विकृतियों से सर्वथा मुक्त रहना चाहिये। अन्य सभी अभिव्यक्तियों की तरह इसके लिए भी प्राण एक अनिवार्य साधन है। परन्तु जैसा कि हमेशा हुआ है, इस अमूल्य वस्तु पर विरोधी शक्तियों ने अपना अधिकार जमा लिया है। प्राण की शक्ति ही इस मन्द और संवेदनशून्य जड़-प्रकृति में प्रविष्ट होकर उसे संवेदनक्षम तथा सजीव बनाती है। परन्तु विरोधी शक्तियों ने इसे विकृत कर दिया है; उन्होंने इसे हिंसा, स्वार्थ, कामना तथा हर प्रकार के भद्देपन का क्षेत्र बना दिया है, इसे भागवत कर्म में भाग लेने से रोक दिया है। बस, करने-लायक़ काम यही है कि हम इसे रूपान्तरित करें, इसकी गति का निग्रह अथवा नाश न करें। क्योंकि इसके बिना कहीं तीव्रता सम्भव नहीं है। हमारे अन्दर प्राण ही वह चीज़ है जिसका स्वभाव ही है अपने-आपको देना। प्राण ही वह तत्त्व है जिसमें हमेशा किसी चीज़ को लेने का आवेग तथा बल रहता है, इसी कारण जो वस्तु अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से उत्सर्ग कर सकती है, वह भी प्राण ही है; चूँकि वह अधिकार जमाना जानता है, इसलिए वह यह भी जानता है कि बिना कुछ बचाये हुए अपने-आपको कैसे दिया जाये। प्राण की सच्ची गति अन्य सभी गतियों से अधिक सुन्दर और अत्यन्त उत्कृष्ट है; किन्तु इसे तोड़-मरोड़ कर अत्यन्त भद्दा, अत्यन्त विरूप और अत्यन्त

घृणास्पद बना दिया गया है। प्रेम-सम्बन्धी मानव कथाओं में जहाँ कहीं शुद्ध प्रेम का अणुमात्र भी प्रवेश हो पाया है और उसे बहुत अधिक विकार के बिना अभिव्यक्त होने दिया गया है, वहीं हमें एक सत्य और सुन्दर वस्तु दीख पड़ती है। और यदि यह गति अधिक देर तक नहीं ठहरती तो इसका कारण यह है कि यह अपने उद्देश्य और खोज से सचेतन नहीं है; इसे यह ज्ञान नहीं है कि इसकी खोज का विषय एक सत्ता की दूसरे सत्ता के साथ ऐक्य नहीं, बल्कि समस्त सत्ताओं का भगवान् के साथ ऐक्य है।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ८२-८३

सम्पूर्ण नव-निर्माण

यदि तुम्हारा लक्ष्य 'आत्मा' की मुक्ति में मुक्त होना है तो तुम्हें उन सब बन्धनों का त्याग करना चाहिये जो तुम्हारी सत्ता के आन्तरिक सत्य नहीं हैं, बल्कि अवचेतना की आदतों से आते हैं। यदि तुम अपने-आपको पूर्ण, निरपेक्ष और अनन्य भाव से भगवान् के अर्पण करना चाहते हो तो सम्पूर्ण रूप से करो; अपनी सत्ता के टुकड़ों को इधर-उधर बँधे न छोड़ दो। शायद तुम आपत्ति करो कि अपने बन्धनों को सम्पूर्ण रूप से काट डालना सहज नहीं है! परन्तु क्या तुमने कभी अपने भूतकाल की ओर दृष्टिपात नहीं किया और यह नहीं देखा कि इन थोड़े-से वर्षों में ही तुम्हारे अन्दर कितने परिवर्तन हुए हैं? इस तरह पीछे देखते समय प्रायः हमेशा तुम अपने-आपसे पूछते हो कि यह कैसे हुआ कि तुमने इस तरह अनुभव किया या अमुक परिस्थितियों में इस तरह काम किया। कभी-कभी अपने दस साल पहले के रूप को तुम पहचान भी नहीं सकते। तो फिर, जो कुछ था या है उसके साथ तुम अपने-आपको बाँध कैसे सकते हो अथवा पहले से ही यह कैसे नियत कर सकते हो कि भविष्य में क्या होगा और क्या नहीं?

तुम्हारे सभी सम्बन्ध चुनाव की आन्तरिक स्वतन्त्रता के आधार पर नये सिरे-से स्थापित होने चाहियें। वे परम्पराएँ जिनमें तुम पले हो या रहते हो, वे परिस्थिति के दबाव द्वारा या सर्वसाधारण मन द्वारा अथवा दूसरों की रुचि द्वारा तुम पर लादी गयी हैं। तुमने एक प्रकार से बाध्य होकर ही इन्हें स्वीकारा है। स्वयं धर्म भी मनुष्यों पर लादी हुई चीज़ है; इसे प्रायः कोई धार्मिक भय अथवा आध्यात्मिक या अन्य प्रकार की विभीषिका का

भाव पीछे से सहारा दिये रहता है। भगवान् के साथ तुम्हारे सम्बन्ध में इस प्रकार के आरोपण का कोई स्थान नहीं हो सकता; यह सम्बन्ध सर्वथा स्वतन्त्र, तुम्हारे मन और प्राण की पसन्दगी के अनुसार, उत्साहपूर्ण तथा आनन्द से भरा होना चाहिये। वह कैसा एकत्व होगा जिसमें कोई काँपते हुए कहे : "मैं बाध्य होकर कर रहा हूँ, मेरे पास और उपाय ही नहीं है?" सत्य स्वतःसिद्ध है और उसे जगत् पर लादने की आवश्यकता नहीं। उसे मनुष्यों के द्वारा स्वीकारे जाने की आवश्यकता नहीं महसूस होती; वह स्वतःस्थित है, वह अपने बारे में लोगों की राय या उनके समर्थन के कारण नहीं जीता।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ९३-९४

योग और बीमारी

योग-साधना करने वाले व्यक्ति के अन्दर जो शक्ति अवतरित होती है और जो उसके रूपान्तर के कार्य में उसकी सहायता करती है, वह अनेक प्रकार से कार्य करती है और इस शक्ति की क्रिया के परिणाम इसे ग्रहण करने वाले स्वभाव पर तथा उसके अन्दर जो कार्य किया जाने वाला है उस पर निर्भर हैं। सबसे पहले, यह शक्ति साधक में जो कुछ रूपान्तरित होने के लिए तैयार है उस सबके रूपान्तर में एक वेग ले आती है। यदि उसका मन खुला हुआ और ग्रहणशील हो तो इस योग-शक्ति का स्पर्श पाकर वह शीघ्रतापूर्वक परिवर्तित होने और प्रगति करने लगता है। इसी प्रकार यदि उसकी प्राणमय चेतना तैयार हो तो उसका भी, यहाँ तक कि उसके शरीर का भी, परिवर्तन उसी वेग के साथ होने लगता है। परन्तु योग की रूपान्तर करने वाली शक्ति शरीर में एक हद तक ही काम करती है; क्योंकि शरीर की ग्रहणशीलता सीमित है। विश्व के अत्यन्त जड़प्राकृतिक स्तर की अभी तक यह अवस्था है कि उसमें ग्रहणशीलता के साथ-साथ प्रतिरोध भी बहुत अधिक मात्रा में मिला हुआ है। परन्तु सत्ता के एक भाग में जो तीव्र प्रगति होती है उसका यदि दूसरे भागों की तदनुरूप प्रगति द्वारा अनुसरण न हो तो स्वभाव में एक असामञ्जस्य पैदा हो जाता है, कहीं पर शृंखला-भंग हो जाता है; और जहाँ कहीं या जब कभी यह शृंखला-भंग होता है तो वह किसी-न-किसी व्याधि का रूप धारण कर सकता है। इस

शृंखला-भंग के स्वरूप पर ही रोग का स्वरूप निर्भर होता है। एक प्रकार के असामञ्जस्य का असर मन पर पड़ता है और इससे जो विक्षोभ होता है उसके कारण उन्माद तक हो सकता है; दूसरा असामञ्जस्य ऐसा होता है जिसका असर शरीर पर पड़ता है और उसके फलस्वरूप ज्वर, घमौरी तथा दूसरे छोटे-बड़े रोग हो सकते हैं।

एक ओर, योग-शक्तियों के कार्य द्वारा सत्ता के उन भागों में, जो अपने ऊपर कार्य करने वाली शक्ति को ग्रहण करने और उसका प्रत्युत्तर देने के लिए तैयार हैं, रूपान्तर की गति बढ़ जाती है। और इस प्रकार, योग समय की बचत करता है। सारा जगत् उत्तरोत्तर रूपान्तर की प्रक्रिया में है; और यदि तुम योग-साधना करने का निश्चय करते हो तो अपने अन्दर होती हुई इस प्रक्रिया में एक तेज़ी ले आते हो। जिस काम को साधारण रीति से करने में वर्षों लगेंगे वही योग के द्वारा चन्द दिनों में, यहाँ तक कि चन्द घण्टों में किया जा सकता है। परन्तु तुम्हारी आन्तर चेतना ही इस शीघ्रगामी आवेग के अधीन होती है; कारण, तुम्हारे आधार के उच्चतर भाग ही योग की द्रुत और एकाग्र गति का तत्परता के साथ अनुसरण करते हैं और इस गति के कारण उन्हें जो सतत रूप से उसके साथ एकरस होने और अनुकूलता स्थापित करने की आवश्यकता रहती है उसे अधिक सुगमता के साथ करते रहते हैं। दूसरी ओर शरीर साधारणतया स्थूल, तमोगुणी और शिथिल होता है। यदि तुम्हारे इस भाग में कोई चीज़ ऐसी है जो उपर्युक्त गति का प्रत्युत्तर नहीं देती, यदि वहाँ कोई प्रतिरोध होता है, तो इसका कारण यह है कि शरीर बाक़ी सत्ता के साथ तेज़ी से नहीं चल सकता। इसे समय लगता है, जिस चाल से यह साधारण जीवन में चलता है उसी चाल से यौगिक जीवन में भी चलना चाहता है। यह वैसा ही होता है जैसे जवान लोग बच्चों के साथ तेज़ी से चल रहे हों; उन्हें समय-समय पर रुक जाना पड़ता है ताकि बच्चे, जो पिछड़ गये हैं, उनसे आ मिलें। आन्तरिक सत्ता की प्रगति और स्थूल शरीर की जड़ता का विरोध बहुधा शरीर में शृंखला-भंग कर देता है और रोग के रूप में प्रकट होता है। यही कारण है कि योग-साधना करने वाले आरम्भ में अक्सर किसी-न-किसी प्रकार की भौतिक बेचैनी या गड़बड़ का अनुभव करते हैं। यदि ये लोग चौकसी रखें और सावधान रहें तो ऐसा होना ज़रूरी नहीं है। अथवा यदि

शरीर बहुत अधिक और असाधारण रूप से ग्रहणशील हो तो भी वे बच जाते हैं। परन्तु इतनी निर्मल ग्रहणशीलता पाना बहुत कठिन है जो भौतिक अंगों को भी आन्तरिक रूपान्तर के वेग के साथ-साथ लगातार चला सके; हाँ, यदि शरीर को भूतकाल में यौगिक प्रक्रिया के लिए तैयार किया जा चुका हो तो और बात है।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ९६-९८

'कृपा' के प्रति समर्पण

परन्तु तुम जो कुछ भी करो, जिस किसी प्रक्रिया का उपयोग करो, चाहे उस प्रक्रिया का उपयोग करने में तुम्हें बड़ा भारी कौशल या सामर्थ्य ही क्यों न प्राप्त हो, फिर भी तुम्हें उसके फल को भगवान् के हाथों में ही छोड़ देना चाहिये। प्रयत्न तो तुम्हें सदा करते ही रहना चाहिये, किन्तु तुम्हारे प्रयत्न का फल देना या न देना भगवान् का काम है। यहाँ पर तुम्हारी अपनी ताक़त ख़त्म हो जाती है, यदि कोई परिणाम आता है तो उसे तुम्हारी अपनी शक्ति नहीं, बल्कि 'भागवत शक्ति' लाती है। तुम पूछते हो कि भगवान् से इन चीज़ों को माँगना उचित है या नहीं। यदि किसी नैतिक दोष को दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना करने में कोई हर्ज़ नहीं है, तो किसी भौतिक अपूर्णता को दूर करने के लिए भगवान् की ओर मुड़ने में क्या हर्ज़ है? परन्तु तुम जो कुछ माँगो, तुम्हारा जो कुछ भी प्रयास हो, उस समय भी जब तुम ज्ञान या शक्ति का प्रयोग करते हुए भरपूर प्रयास कर रहे होते हो, तुम्हें सदा यह अनुभव करना चाहिये कि परिणाम भगवान् की 'कृपा' पर निर्भर होता है। एक बार यदि तुमने इस योग को स्वीकार कर लिया है तो फिर तुम्हारे सभी काम पूर्ण आत्म-समर्पण के भाव से होने चाहियें। तुम्हारा भाव यह होना चाहिये: "मैं अभीप्सा करता हूँ, मैं अपनी अपूर्णताओं को दूर करने की कोशिश करता हूँ, मैं यथासम्भव सब करता हूँ, किन्तु फल के लिए मैं अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से भगवान् के हाथों में सौंपता हूँ।"

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १०९-१०

ध्यान में बैठना

यह तुम्हारी अभीप्सा के गुण पर निर्भर करता है कि कैसी शक्ति उसका उत्तर देगी और वह क्या काम करेगी। ध्यान के समय अपने-आपको शून्य कर लेने से तुम्हारे अन्दर एक आन्तरिक निश्चल-नीरवता पैदा हो जाती है; इसका यह अर्थ नहीं कि तुम शून्य या कोई निर्जीव और जड़ वस्तु बन गये हो। अपने-आपको ख़ाली पात्र बना कर तुम उस वस्तु का आवाहन करते हो जो उसे भर देगी। अर्थात्, तुम अपनी आन्तरिक चेतना के दबाव को सिद्धि की ओर खोल देते हो। यह तुम्हारी चेतना के स्वभाव और उसके दबाव पर निर्भर करता है कि तुम किन शक्तियों को कार्यक्षेत्र में उतारते हो और वे शक्तियाँ तुम्हारे कार्य में सहायता पहुँचायेंगी और उसे सफल करेंगी या विफल करेंगी अथवा हानि पहुँचाएँगी और बाधा देंगी।

तुम विभिन्न अवस्थाओं के ध्यान कर सकते हो और उन सभी का अन्दर या नीचे की ओर उतारी गयी शक्तियों पर तथा उनके कार्य पर प्रभाव पड़ता है। यदि तुम अकेले ध्यान में बैठो तो तुम्हारी अपनी आन्तर और बाह्य अवस्था ही मुख्य होगी। और यदि तुम दूसरों के साथ बैठो तो फिर सामान्य अवस्था का महत्त्व अधिक होगा। परन्तु इन दोनों दशाओं में अवस्थाएँ सदा बदलती रहेंगी और जो शक्तियाँ उनका उत्तर देंगी वे कभी एक-सी न होंगी। उचित रूप में की गई सम्मिलित एकाग्रता एक महान् शक्ति हो सकती है। एक प्राचीन कहावत है कि यदि एक दर्जन सच्चे मनुष्य अपने संकल्प और अभीप्सा को एक करके भगवान् को पुकारें तो भगवान् प्रकट हुए बिना न रह सकेंगे। परन्तु उनका संकल्प एकनिष्ठ होना चाहिये और अभीप्सा सच्ची। हो सकता है कि इस प्रकार का प्रयास करने वाले किसी प्रकार की जड़ता के वश अथवा किसी भ्रान्त या विकृत इच्छा के कारण एक हो गये हों, तब परिणाम विनाशकारी हो सकता है।

ध्यान के समय पहली और अनिवार्य आवश्यकता है तुम्हारी समस्त चेतना का पूर्ण और नितान्त सच्चाई की अवस्था में होना। यह अपरिहार्य है कि तुम अपने-आपको धोखा न दो और दूसरों को न तो धोखा दो और न दूसरे के धोखे में आओ। बहुधा लोगों में कोई कामना होती है, कोई मन की पसन्द या प्राण की वासना होती है; वे चाहते हैं कि उनके ध्यान में होने वाली अनुभूति अमुक रूप में ही हो अथवा वह कुछ ऐसा मोड़

ले जिससे उनकी भावनाओं, इच्छाओं और पसन्दों को सन्तोष मिले; वे अपने-आपको ख़ाली और निष्पक्ष रख कर जो कुछ होता है उसे सरलता और सच्चाई के साथ साक्षी रूप में नहीं देखते। यदि ऐसी अवस्था में होने वाली चीज़ तुम्हें पसन्द न हो तो अपने-आपको धोखा देना सहज होगा; तुम एक चीज़ देखोगे, किन्तु उसे थोड़ा-सा तोड़-मरोड़ कर कोई और ही चीज़ बना डालोगे अथवा किसी सहज और स्पष्ट वस्तु को विकृत कर डालोगे या उसे बढ़ा-चढ़ा कर असाधारण अनुभूति बना दोगे। जब तुम ध्यान करने बैठो तो तुम्हें एक बच्चे की भाँति सरल और निष्कपट रहना चाहिये, अपने बाहरी मन को किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करने दो, कोई आशा और किसी तरह का हठ न करो। एक बार यदि यह अवस्था आ जाये तो बाक़ी सब तुम्हारे अन्तर की गहराई से उठती अभीप्सा पर निर्भर होगा। यदि तुम अन्दर से शान्ति माँगोगे, तो वह मिलेगी; यदि बल माँगोगे, शक्ति माँगोगे, ज्ञान माँगोगे, तो वे भी मिलेंगे, किन्तु सब-के-सब तुम्हारी ग्रहण करने की शक्ति के परिमाण में मिलेंगे। और यदि तुम भगवान् का आवाहन करो—यह स्वीकार करते हुए कि भगवान् तुम्हारे आवाहन को सुनने के लिये सदा तैयार हैं, और इसका यह अर्थ हुआ कि तुम्हारा आवाहन उन तक पहुँचने के लिये पर्याप्त रूप से शुद्ध और बलवान् है—तो तुम्हें उसका उत्तर अवश्य मिलेगा। **'श्रीमातृवाणी'** खण्ड ३, पृ. १११-१२

घृणा से पिण्ड छुड़ाना

संसार ऐसी चीज़ों से भरा है जो सुखकर या सुन्दर नहीं हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य इन चीज़ों से दिन-रात घृणा करता रहे। घृणा, जुगुप्सा और भय की समस्त भावनाओं पर, जो मानव मन को क्षुब्ध और दुर्बल करती हैं, विजय प्राप्त की जा सकती है। योगी को इन प्रतिक्रियाओं पर विजय प्राप्त करनी होगी, क्योंकि योग-मार्ग पर पहला क़दम रखते ही यह माँग की जाती है कि तुम सभी प्राणियों, वस्तुओं और घटनाओं के सम्मुख पूर्ण समचित्तता रखो। तुम्हें सदा स्थिर, निर्लिप्त और अविचलित रहना चाहिये, इसी में योग का बल है। यदि तुम पूर्ण रूप से स्थिर और शान्त हो तो तुम्हारे सामने आने पर ख़तरनाक और खूँखार पशु भी निरस्त्र हो जायेंगे।

विकर्षण अज्ञान की क्रिया है। यह आत्म-संरक्षण की एक नैसर्गिक चेष्टा है। परन्तु जो चीज़ तुम्हारा सबसे अधिक संरक्षण करती है वह है ज्ञान, किसी ख़तरे से बिना सोचे-विचारे दूर हट जाना नहीं, इस बात का ज्ञान कि ख़तरा कैसा है और साथ ही जिन साधनों से वह टल सकता है या निष्फल हो सकता है उन साधनों का सचेतन उपयोग।

अज्ञान से पिण्ड छुड़ाना

ये गतियाँ जिस अज्ञान में से जन्म लेती हैं वह एक साधारण मानव अवस्था है, किन्तु उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है; क्योंकि हम असंस्कृत मानव प्रकृति से, जहाँ से हमारी बाह्य सत्ता का आरम्भ होता है और जो हमें चारों ओर से घेरे हुए है, बँधे नहीं हैं।

बढ़ती हुई चेतना अज्ञान को दूर कर देती है। जिस चीज़ की तुम्हें ज़रूरत है वह है चेतनता, सदैव अधिकाधिक चेतनता, शुद्ध, सरल और ज्योतिर्मयी चेतनता। इस प्रकार की पूर्णता-प्राप्त चेतना के प्रकाश में चीज़ें अपने असली रूप में दिखायी देती हैं, वैसी नहीं जैसी वे अपने को दिखाना चाहती हैं। यह प्रकाश एक चित्रपट की तरह होता है जो सामने से गुज़रती हुई चीज़ों को हूबहू दिखा देता है। वहाँ तुम देख पाते हो कि कौन-सी चीज़ ज्योतिर्मयी है और कौन-सी अन्धकारमयी, कौन-सी सीधी है और कौन-सी टेढ़ी। तुम्हारी चेतना एक चित्रपट या दर्पण बन जाती है; पर यह तब होता है जब तुम चिन्तन-मनन की अवस्था में केवल द्रष्टा-मात्र रहते हो; जब तुम सक्रिय होते हो तो यह चेतना सर्चलाइट की तरह हो जाती है। यदि तुम्हें कहीं किसी चीज़ को साफ़-साफ़ देखना हो और उसकी अन्दरूनी जाँच-पड़ताल करनी हो तो बस इस सर्चलाइट को जला दो।

इस प्रकार की पूर्ण चेतना को प्राप्त करने का उपाय है अपनी वास्तविक चेतना को उसके वर्तमान घेरे और सीमा से बाहर निकाल कर विशाल बनाना, उसे शिक्षित करना, उसे 'भागवत ज्योति' की ओर खोलना और उसमें 'भागवत ज्योति' को स्वतन्त्र और स्वच्छन्द रूप से काम करने देना। परन्तु 'ज्योति' अपना पूरा और अबाधित कार्य तभी कर सकती है जब तुम समस्त लालसाओं और भय से मुक्त होओ, जब तुम्हारे अन्दर कोई भी मानसिक पक्षपात न हो, कोई प्राणिक पसन्द न हो, कोई भौतिक

आशंका या आकर्षण न हो जो तुम्हें तमसाच्छन्न करे या बन्धन में डाले।
'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ११३-१५

समर्पण और बलिदान

हमारे योग में बलिदान के लिए कोई स्थान नहीं है। परन्तु सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि तुम बलिदान शब्द का क्या अर्थ करते हो। इसके विशुद्ध भाव के अनुसार इसका अर्थ है पवित्र उत्सर्ग, भगवान् के प्रति अर्पण द्वारा पवित्रीकरण। परन्तु आजकल के बलिदान का अर्थ है विनाश के लिए प्रवृत होना; यह अपने साथ एक अभावात्मक वातावरण लिये हुए है। इस प्रकार का बलिदान यज्ञ नहीं है, यह तो आत्मवञ्चना है, आत्मवध है। तुम अपनी सम्भावनाओं का, अपने व्यक्तित्व की अत्यन्त जड़-प्राकृतिक भूमिका से लेकर अत्यन्त आध्यात्मिक भूमिकाओं तक की सम्भावनाओं और सिद्धियों का बलिदान करते हो। बलिदान तुम्हारी सत्ता को क्षीण करता है। भौतिक रूप से, यदि तुम अपने जीवन का, अपने शरीर का बलिदान करते हो तो तुम पार्थिव भूमिका पर की अपनी समस्त सम्भावनाओं को खो देते हो; तुम अपने पार्थिव जीवन की सफलताओं से हाथ धो लेते हो। इसी प्रकार नैतिक दृष्टि से तुम अपने जीवन की बलि दे सकते हो; तुम अपने आन्तरिक जीवन की विशालता और स्वतन्त्र चरितार्थता को त्याग देते हो। आत्मबलि की इस भावना के अन्दर सदा ही एक प्रकार की ज़बर्दस्ती का, एक तरह के दबाव का, एक अध्यारोपित आत्म-वञ्चना का भाव रहता है। यह एक ऐसा आदर्श है जो आत्मा की गभीरतर और विशालतर सहजता को कोई स्थान नहीं देता। समर्पण से हमारा ऐसा आशय नहीं, बल्कि सहज आत्मदान है, अपने-आपको पूरी तरह से भगवान् को, एक ऐसी उच्चतर चेतना को दे देना जिसके तुम एक अंग हो। समर्पण तुम्हारा ह्रास नहीं करेगा, बल्कि तुम्हारी वृद्धि करेगा, वह तुम्हारे व्यक्तित्व को घटायेगा नहीं, न उसे दुर्बल करेगा, न उसका नाश ही करेगा, बल्कि वह उसको सुदृढ़ बनायेगा, उसका उत्कर्ष करेगा। समर्पण का अर्थ है देने के पूर्ण आनन्द के साथ मुक्त भाव से और पूर्ण रूप से देना, इसमें बलिदान का कोई भाव नहीं है। यदि तुममें ज़रा-सा भी ऐसा भाव होता है कि तुम बलिदान कर रहे हो तो फिर वह समर्पण नहीं रहता।

क्योंकि इसका तो यह अर्थ हुआ कि तुम अपने-आपको बचाये रखना चाहते हो अथवा यह कि तुम अनिच्छापूर्वक या कष्ट और प्रयास के साथ देने की चेष्टा कर रहे हो, तुम्हें देने का आनन्द नहीं मिलता, शायद तुम्हारे अन्दर देने का भाव तक नहीं होता। जब कभी तुम किसी काम को अपनी सत्ता पर दबाव डाल कर करते हो तभी तुम यह निश्चयपूर्वक जान लो कि तुम उस काम को ग़लत तरीक़े से कर रहे हो। सच्चा समर्पण तुम्हें विशाल बनाता है, तुम्हारी क्षमता की वृद्धि करता है, वह तुम्हारे गुण और मात्रा के परिमाण को इतना बढ़ाता है जितना तुम अपने-आप न बढ़ा पाते। गुण और मात्रा की यह नयी वृद्धि पहले जो कुछ तुम प्राप्त कर सकते थे उससे भिन्न प्रकार की है: तुम किसी दूसरे ही जगत् में प्रवेश करते हो, किसी विशालता में, जिसमें समर्पण किये बिना न पहुँच पाते। यह तो ऐसे ही है जैसे समुद्र में जल की एक बूँद गिरती है। अगर उसने अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखा तो वह मात्र जल की बूँद रहेगी, इससे अधिक कुछ नहीं, एक छोटी-सी बूँद जो अपने इर्द-गिर्द की विशालता से कुचली गयी, क्योंकि उसने समर्पण नहीं किया है। परन्तु, समर्पण कर देने पर, वह उस समुद्र के साथ एक हो जाती है और समग्र समुद्र की प्रकृति और शक्ति और विशालता का अंग बन जाती है।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १२८-३०

समर्पण तथा स्वार्पण

अपने जीवन का उत्तरदायित्व भगवान् को सौंप देने का निश्चय समर्पण है। इस निश्चय के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है। अगर तुम समर्पण न करो तो योग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बाक़ी सब चीज़ें स्वभावतः उसके बाद आती हैं, सारी प्रक्रिया समर्पण से आरम्भ होती है। तुम ज्ञान के द्वारा या भक्ति के द्वारा समर्पण कर सकते हो। तुम्हें प्रबल अन्तर्भास हो सकता है कि केवल भगवान् सत्य हैं और एक ज्योतिर्मय विश्वास हो सकता है कि भगवान् के बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकता। या तुम्हारे अन्दर यह भाव सहज उठ सकता है कि सुखी होने का यही एकमात्र मार्ग है, एक प्रबल चैत्य इच्छा हो सकती है कि तुम पूरी तरह भगवान् के हो जाओ, तुम कहो: "मैं स्वयं अपना मालिक नहीं हूँ," और अपनी सत्ता

की पूरी ज़िम्मेदारी सत्य को सौंप दो। इसके बाद आता है स्वार्पण : "यह रहा मैं, विविध गुणोंवाला, अच्छे-बुरे, काले-उजले गुणोंवाला प्राणी। मैं अपने-आपको तुम्हारे हाथों में अर्पित करता हूँ, जैसा हूँ वैसा ही देता हूँ, मेरी सब ऊँच-नीच, मेरे अपने परस्पर-विरोधी आवेगों और वृत्तियों के साथ मुझे स्वीकार कर लो—मेरे साथ जो चाहो करो।" अपनी आत्मार्पण की प्रक्रिया में तुम अपनी सत्ता को उस चीज़ के चारों ओर एकत्रित करने लगते हो जिसने पहला निश्चय किया था और वह है केन्द्रीय चैत्य संकल्प। तुम्हारी प्रकृति के सभी कर्कश तत्त्वों में समस्वरता लाने की ज़रूरत है। उन्हें एक-एक करके केन्द्रीय सत्ता के साथ एक करने की ज़रूरत है। तुम एक सहज गति के साथ अपने-आपको भगवान् के अर्पण कर सकते हो, लेकिन इस एकीकरण के बिना अपने-आपको प्रभावशाली ढंग से देना सम्भव नहीं है।

समर्पण तथा आत्म-निवेदन

तुम जितने अधिक एकीकृत होओगे, उतना ही अधिक स्वार्पण करने-योग्य होओगे। और एक बार स्वार्पण पूरा हो जाये तो आत्म-निवेदन की बारी आती है : यह उपलब्धि की प्रक्रिया का मुकुट है, सोपान की अन्तिम सीढ़ी है। इसके बाद कोई कठिनाई नहीं आती, सब कुछ आसानी से हो जाता है, लेकिन यह न भूलो कि तुम एकदम से पूर्ण आत्म-निवेदन नहीं कर सकते। दो-एक दिन के लिए किसी विशेष प्रकार की प्रबल गति हो तो तुम्हें इस प्रकार का भ्रम हो जाता है। तुम्हें यह आशा हो जाती है कि उसके परिणाम-स्वरूप सब चीज़ें अपने-आप होती चलेंगी। लेकिन वास्तव में, यदि तुम ज़रा भी आत्मसन्तुष्ट हो जाओ तो तुम अपने-आप अपनी प्रगति को रोकोगे। क्योंकि तुम्हारी सत्ता आपस में लड़ती-झगड़ती, युद्ध करती प्रवृत्तियों से भरी है जिन्हें हम विभिन्न व्यक्तित्व कह सकते हैं। जब उनमें से एक अपने-आपको भगवान् को देता है तो दूसरे भाग उठ कर भक्ति या निष्ठा अर्पित करने से इन्कार करते हैं। वे कहते हैं : "हमने अपने-आपको नहीं दिया," और वे अपनी स्वाधीनता और अपनी अभिव्यक्ति के लिए चिल्ल-पों मचाने लगते हैं। तब तुम उन्हें चुप रहने की आज्ञा दो और सत्य दिखा दो। तुम्हें बड़े धीरज के साथ अपनी सारी

सत्ता का चक्कर लगाना पड़ेगा, हर स्थान की, हर कोने की तलाशी लेनी होगी, उन सभी अराजक तत्त्वों का सामना करना होगा जो तुम्हारे अन्दर मौक़ा पाते ही उभरने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। और तुम अपनी सभी कठिनाइयों का अन्त तभी ला सकोगे जब तुम अपनी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक प्रकृति का पूरा चक्कर लगा चुकोगे, हर चीज़ को अपने-आपको भगवान् के सुपुर्द करने के लिए मना लोगे और इस तरह सम्पूर्ण एकीकृत आत्म-निवेदन की स्थिति प्राप्त कर लोगे। तब वास्तव में रूपान्तर की ओर तुम्हारी भव्य यात्रा होगी, क्योंकि तब तुम अन्धकार से ज्ञान की ओर नहीं, ज्ञान से ज्ञान की ओर, प्रकाश से प्रकाश की ओर, आनन्द से आनन्द की ओर चलोगे...। सम्पूर्ण आत्म-निवेदन आसान चीज़ नहीं है और यदि तुम्हें अपने ही भरोसे, अपने स्वतन्त्र प्रयास के द्वारा करना हो तो शायद इसमें बहुत ही अधिक समय लग जाये। लेकिन जब भागवत कृपा तुम्हारे साथ हो तो ठीक ऐसा नहीं होता। जब-तब भगवान् की ओर से ठीक दिशा में ज़रा-सा धक्का मिल जाये तो काम अपेक्षया सरल हो जाता है। समय की अवधि व्यक्ति-व्यक्ति पर आश्रित है, लेकिन अगर तुम सचमुच दृढ़ संकल्प ले लो तो यह बहुत कम हो सकती है। दृढ़ संकल्प ही अपेक्षित है—दृढ़ संकल्प ही है सर्वकुञ्जी।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १४१-४३

त्याग

शास्त्रों में त्याग के बारे में बहुत कुछ कहा गया है—तुम्हें सम्पत्ति को त्यागना चाहिये, आसक्तियों को त्यागना चाहिये, इच्छाओं को त्यागना चाहिये। लेकिन मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि जब तक तुम्हें कोई चीज़ त्यागनी पड़े तब तक तुम इस मार्ग पर नहीं हो, क्योंकि, जब तक तुम चीज़ों की वर्तमान स्थिति से पूरी तरह उकता नहीं गये हो और तुम्हें उन्हें त्यागने के लिए कोशिश करनी पड़ती है तब तक तुम अतिमानसिक योग के लिए तैयार नहीं हो। अगर तुम्हें 'अधिमानस' की रचनाएँ—उसकी बनायी हुई यह दुनिया और इसकी वर्तमान व्यवस्था जिसे वह सहारा दे रहा है —अब भी सन्तुष्ट करती हैं तो तुम अतिमानसिक उपलब्धि में भाग लेने की आशा नहीं कर सकते। सिर्फ़ तभी जब तुम्हें ऐसी दुनिया से विरक्ति

हो जाये, तुम्हें वह असह्य और स्वीकार करने के अयोग्य लगे तभी तुम चेतना के रूपान्तर के लिए योग्य बनते हो। इसलिए मैं त्याग के विचार को कोई महत्त्व नहीं देती। त्याग का मतलब है ऐसी चीज़ को छोड़ना जिसका तुम्हारी दृष्टि में मूल्य है, जिसे तुम रखने-लायक़ समझते हो उसे फेंक देना। इसके विपरीत, तुम्हें यह लगना चाहिये कि यह दुनिया भद्दी, मूर्खताभरी, क्रूर और असह्य कष्टों से भरी है। एक बार तुम ऐसा अनुभव करो तो तुम्हारी सारी भौतिक चेतना, सारी शारीरिक चेतना, जो इस स्थिति को ऐसा नहीं रखना चाहती, इसे बदलना चाहेगी। वह चिल्ला उठेगी, "मैं कुछ और पाना चाहूँगी, कुछ ऐसी चीज़ जो सत्य, सुन्दर, आनन्द, ज्ञान और चेतना से भरी हो!" यहाँ सब कुछ एक अँधेरी अचेतना के सागर पर तैर रहा है। लेकिन जब तुम अपनी पूरी इच्छाशक्ति से, अपने पूरे निश्चय से, अपनी पूरी अभीप्सा और तीव्रता से केवल भगवान् को चाहोगे तो वे अवश्य आयेंगे। लेकिन यह केवल दुनिया को सुधारने की बात नहीं है। ऐसे लोग हैं जो शासन में परिवर्तन, सामाजिक सुधार और परोपकार के कामों के लिए शोर मचाते हैं। वे समझते हैं कि इससे दुनिया को ज़्यादा अच्छा बना सकेंगे। हम एक नया जगत् चाहते हैं, एक सच्चा जगत् जो 'सत्य चेतना' की अभिव्यक्ति हो। और यह होगा, होना ही चाहिये, और जितनी जल्दी हो उतना अच्छा!

लेकिन यह केवल आत्मपरक परिवर्तन नहीं होना चाहिये। सारे भौतिक जीवन का रूपान्तर होना चाहिये। जड़ जगत् केवल हमारे अन्दर चेतना का रूपान्तर नहीं चाहता। वास्तव में वह कहता है : "तुम आनन्द में चले जाते हो, ज्योतिर्मय बन जाते हो, दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लेते हो; लेकिन इससे मैं नहीं बदलता। मैं तो तब भी नरक ही बना रहता हूँ जो मैं प्रायः हूँ ही!" चेतना का सच्चा रूपान्तर वह होगा जो दुनिया की भौतिक अवस्था को बदल देगा और उसे बिलकुल नयी सृष्टि बना देगा।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १४३-४४

सहनशीलता ही आदर्श-वाक्य है

सहनशीलता तुम्हारा आदर्श-वाक्य हो : अपनी जीवनी शक्ति को—अपनी प्राण-सत्ता को—यह सिखाओ कि शिकायतें किये बिना, महान् उपलब्धि के

लिए आवश्यक सब प्रकार की स्थितियों को सह ले। शरीर बहुत सहनशील दास है। वह लद्दू जानवर की तरह चुपचाप परिस्थितियों के भार को ढोता रहता है। प्राण-सत्ता ही हमेशा बेचैन रहती और बुड़बुड़ाती है। वह शरीर को बेहिसाब यातनाओं और दासता में जकड़ती है। वह बेचारे शरीर को अपनी झक और तरंग के अनुसार कितना तोड़ती-मरोड़ती है और बड़े असंगत ढंग से यह माँग करती है कि हर चीज़ को उसकी सनक के अनुसार रूप दिया जाये! परन्तु सहनशीलता का सारतत्त्व यह है कि प्राण अपनी मनमानी पसन्द, नापसन्द को छोड़ कर, अत्यन्त कष्टकर स्थितियों के बीच भी धीरज और समबुद्धि बनाये रख सके। यदि कोई तुम्हारे साथ बुरी तरह व्यवहार करे या तुम असुविधा से बचाने वाली किसी चीज़ से वञ्चित रहो तो अपने-आपको घबराने न दो, हँसी-ख़ुशी से सह लो। कोई भी चीज़ तुम्हें ज़रा भी परेशान न करने पाये और जब कभी प्राण आडम्बरपूर्ण अतिशयोक्तियों के साथ अपनी छोटी-मोटी शिकायतों का दफ़्तर खोले तो ज़रा रुक जाओ और यह सोचो कि दुनिया के बहुत सारे लोगों की तुलना में तुम कितने अधिक सुखी हो। क्षण-भर के लिए सोचो, पिछले युद्ध में जिन सैनिकों ने भाग लिया था उन पर क्या बीती थी। अगर तुम्हें इस प्रकार की कठिनाइयाँ सहनी पड़तीं तो तुम्हें पता चलता कि तुम्हारा असन्तोष कितना मूर्खतापूर्ण है। फिर भी मैं यह नहीं चाहती कि तुम कठिनाइयों के साथ दोस्ती करो—मैं सिर्फ़ इतना ही चाहती हूँ कि तुम अपने जीवन की ज़रा-ज़रा सी नगण्य कठिनाइयों को सहना सीखो।

सहनशीलता के बिना कभी कोई बड़ा काम पूरा नहीं हुआ।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १५०-५१

श्रद्धा

बाहरी चेतना का प्रत्यक्ष दर्शन चैत्य पुरुष के दर्शन का खण्डन कर सकता है, लेकिन चैत्य पुरुष के पास सच्चा ज्ञान होता है—एक अन्तर्भासात्मक सहज ज्ञान। वह कहता है : "मैं जानता हूँ; मैं कारण नहीं दे सकता; पर मैं जानता हूँ।" क्योंकि उसका ज्ञान मानसिक नहीं होता, अनुभव पर आधारित या प्रमाणित सत्य नहीं होता। वह दलीलें दिये जाने के बाद नहीं मानता, श्रद्धा अन्तरात्मा की गति है जिसका ज्ञान सहज और

सीधा होता है। सारी दुनिया भले विरोध करे या विपक्ष में हज़ारों प्रमाण दे, फिर भी वह आन्तरिक ज्ञान के द्वारा जानता है, उसे दर्शन होता है जो हर विरोध का सामना कर सकता है, उसे तादात्म्य के द्वारा दर्शन होता है। चैत्य पुरुष का ज्ञान निश्चित, वास्तविक और ठोस होता है। तुम उसे अपने मन, अपने प्राण और अपने शरीर में भी उतार सकते हो और तब तुम्हारे अन्दर समग्र श्रद्धा होगी—ऐसी श्रद्धा जो सचमुच पहाड़ों को भी हिला सके। लेकिन तब सारी सत्ता में कोई भी चीज़ ऐसी न होनी चाहिये जो आकर कहे : "नहीं, यह ऐसा नहीं है", कोई चीज़ प्रमाण की माँग न करे। ज़रा-सा अर्ध विश्वास भी सारे मामले को बिगाड़ सकता है। अगर श्रद्धा पूर्ण और अचल न हो तो परम प्रभु कैसे अभिव्यक्त हो सकते हैं? श्रद्धा अपने-आपमें हमेशा अचल होती है—यह उसकी अपनी प्रकृति है, वरना वह श्रद्धा ही नहीं होती। लेकिन हो सकता है कि मन या प्राण या शरीर चैत्य गतिविधि का अनुसरण न करें। कोई आदमी एक योगी के पास आ सकता है और अचानक उसके अन्दर यह श्रद्धा हो सकती है कि यह आदमी मुझे लक्ष्य तक पहुँचा सकेगा। वह नहीं जानता कि उसमें ज्ञान है या नहीं। उसे एक चैत्य धक्का-सा लगता है और वह जान लेता है कि उसे अपना गुरु मिल गया। वह लम्बे मानसिक ऊहापोह के बाद या चमत्कार देख कर विश्वास नहीं करता और यही वह श्रद्धा है जिसका मूल्य है। तुम अगर तर्क करना शुरू कर दो तो हमेशा अपनी नियति को खोते रहोगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १६४-६५

उचित मनोवृत्ति

क्या सचमुच जो कुछ होता है अच्छे-से-अच्छा ही होता है?... यह तो स्पष्ट ही है कि जो कुछ हुआ है उसे होना ही था : इससे भिन्न न हो सकता था—वैश्व नियति के कारण उसे होना ही था। लेकिन यह बात हम तभी कह सकते हैं जब वह हो चुके, उससे पहले नहीं। क्योंकि "जो हो सकता है उसमें अच्छे-से-अच्छे" की समस्या व्यक्तिगत समस्या है, यह व्यक्ति भले एक मनुष्य हो अथवा एक राष्ट्र। सब कुछ व्यक्तिगत मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। यदि जो होने वाला है उसकी परिस्थिति में तुम अपने लिए अधिक-से-अधिक सम्भव ऊँची मनोवृत्ति अपना सको—अर्थात्, यदि

तुम अपनी चेतना को अपनी पहुँच की ऊँची-से-ऊँची चेतना के सम्पर्क में ला सको तो, पूरी तरह निश्चय रखो, जो होगा वह जो हो सकता है उसमें अच्छे-से-अच्छा होगा। लेकिन जैसे ही तुम उस चेतना से निचले स्तर पर गिर पड़ो वैसे ही जो होगा वह स्पष्टतः अच्छे-से-अच्छा न होगा और कारण स्पष्ट है—तुम अपनी अच्छी-से-अच्छी चेतना में नहीं हो...। मैं निश्चयपूर्वक यहाँ तक कह सकती हूँ कि हर एक के तात्कालिक प्रभाव के क्षेत्र में उचित मनोवृत्ति में इतनी शक्ति होती है कि वह हर परिस्थिति को लाभदायक बना सके, इतना ही नहीं, वह स्वयं परिस्थिति को बदल तक सकती है। उदाहरण के लिए, अगर कोई तुम्हें मारने आये, उस समय तुम यदि साधारण चेतना में रहो और डर कर होश-हवास खो बैठो तो सम्भवतः वह जो कुछ करने के लिए आया है उसमें सफल हो जायेगा; अगर तुम ज़रा ऊपर उठ सको और डर से भरे होते हुए भी भागवत सहायता को बुलाओ तो वह ज़रा-सा चूक जायेगा या तुम्हें ज़रा-सी चोट ही पहुँचा पायेगा; लेकिन अगर तुम्हारे अन्दर उचित मनोवृत्ति हो और तुम्हारे चारों ओर हर जगह भागवत उपस्थिति की पूरी चेतना हो तो वह तुम्हारे विरुद्ध उँगली भी न उठा सकेगा।...

मैंने उचित मनोवृत्ति की शक्ति के अनेक उदाहरण देखे हैं। मैंने देखा है कि एक अकेले आदमी की उचित अभिवृत्ति के कारण जन-समूह महाविपत्ति से बच गये हैं। लेकिन यह ऐसी अभिवृत्ति होनी चाहिये जो शरीर को उसकी हमेशा होने वाली प्रतिक्रियाओं में छोड़ कर कहीं किन्हीं ऊँचाइयों पर नहीं रहती। अगर तुम इस तरह ऊँचाइयों पर रहो और कहो, "भगवान् की इच्छा पूरी हो", तो हो सकता है कि इसके होते हुए भी तुम मारे जाओ। क्योंकि हो सकता है कि तुम्हारा शरीर बिलकुल अदिव्य हो और भय से काँपता रहे। ज़रूरी बात यह है कि सत्य चेतना को स्वयं शरीर के अन्दर प्रतिष्ठित किया जाये, ज़रा भी भय न हो, और सत्ता में भागवत शान्ति भरी हो। तब वास्तव में कोई ख़तरा नहीं है।

कल्पना की शक्ति

कल्पना वास्तव में मानसिक रचनाएँ बनाने की शक्ति है। जब यह शक्ति भगवान् की सेवा में लगायी जाती है तो यह केवल रचनाएँ ही नहीं बनाती,

अपितु सृजन भी करती है। तथापि, अवास्तविक रचना जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आकृति मानसिक स्तर पर एक सत्य ही होती है। उदाहरणार्थ, एक उपन्यास का सारा कथानक मानसिक स्तर पर भौतिक स्तर से स्वतन्त्र रूप में विद्यमान रहता है। हममें से हर एक कुछ हद तक उपन्यासकार है और उसमें मानसिक स्तर पर आकार बनाने की क्षमता है; वास्तव में, हमारे जीवन का बहुत-सा भाग हमारी कल्पना-सृष्टि का ही मूर्त रूप है। प्रत्येक बार जब तुम किसी अस्वस्थ कल्पना में रस लेते हो, अपने भयों की रूपरेखा बनाते हो, दुर्घटनाओं और विपत्तियों की आशंका करते हो, तब तुम अपने भावी विनाश के लिए खाई खोदते हो। इसके विपरीत, तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक आशापूर्ण होगी, अपने लक्ष्य को पूरा करना तुम्हारे लिए उतना ही अधिक सम्भव होगा। कूए महोदय को इस शक्तिशाली सत्य का ज्ञान हो गया था और उन्होंने सैकड़ों लोगों को केवल यह सिखा कर अच्छा कर दिया कि वे अपनी कष्टमुक्त स्थिति की कल्पना करें। एक बार उन्होंने एक स्त्री की घटना सुनायी जिसके बाल झड़ते जा रहे थे। उसने अपने-आपको सुझाव देना शुरू किया कि मैं दिन-पर-दिन अच्छी हो रही हूँ और मेरे बाल निश्चय ही बढ़ रहे हैं। लगातार ऐसी कल्पना करने से उसके बाल सचमुच बढ़ने लगे, यहाँ तक कि और अधिक आत्म-सुझाव से वह जितना चाहती थी उससे कहीं अधिक लम्बे हो गये। मानसिक रचनाएँ बनाने की क्षमता योग में भी अत्यन्त उपयोगी है; जब 'भगवत्संकल्प' के साथ मन का सम्पर्क स्थापित हो जाता है, अतिमानसिक 'सत्य' मन और उच्चतम 'प्रकाश' के मध्यवर्ती स्तरों के द्वारा अवतरित होने लगता है और यदि मन में पहुँच कर यह उसके अन्दर रचनाएँ बनाने की क्षमता देखता है तो यह सहज ही मूर्त रूप धारण कर लेता है और तुम्हारे अन्दर सर्जनशील शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अतएव, मैं तुमसे कहती हूँ कि उदास और निराश मत होओ; बल्कि ऐसा करो कि तुम्हारी कल्पना सदा आशापूर्ण और उच्चतर 'सत्य' के दबाव के प्रति सहर्ष नमनशील रहे, जिससे वह सत्य जब आये तो तुम्हें उन रचनाओं से परिपूर्ण पाये जो उसके सर्जनकारी प्रकाश को धारण करने के लिए आवश्यक हैं।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १६६-६९

प्राण का परिवर्तन

प्राण की सर्व-सामान्य माँगों में से एक है प्रशंसा की माँग। वह आलोचना से घृणा करता है और ऐसा व्यवहार नहीं चाहता जिससे यह लगे कि उसका महत्त्व कम है। लेकिन उसे हमेशा झिड़की और निन्दा के लिए तैयार रहना चाहिये और उन्हें पूरी शान्ति के साथ सह सकना चाहिये। उसे प्रशंसा की ओर ध्यान न देना चाहिये; यह न भूलना चाहिये कि आत्मतुष्टि की हर गति मिथ्यात्व के स्वामियों की वेदी पर एक भेंट होती है।...

अग्नि के प्रभाव से तुम्हारे प्राण के परिवर्तन का एक और विशेष लक्षण यह है कि तुम हँसते-हँसते कठिनाइयों और बाधाओं का सामना कर सकते हो। तुम अपनी भूलों के लिए टाट ओढ़ कर, भभूत लगा कर रोने-धोने नहीं बैठ जाते, या इसी क्षण उच्च स्तर तक न पहुँच पाने के कारण एकदम हतोत्साह नहीं हो जाते। तुम खिन्नता को एक मुस्कान से ही भगा देते हो। तुम्हारे लिए सौ भूलों का भी बहुत महत्त्व नहीं होता : एक मुस्कान के साथ तुम पहचान लेते हो कि तुमने भूल की है और मुस्कान के साथ ही यह निश्चय कर लेते हो कि भविष्य में यह मूर्खता फिर से नहीं दोहरायी जायेगी। सभी खिन्नता और विषाद को विरोधी शक्तियाँ ही पैदा करती हैं, उन्हें तुम्हारे ऊपर उदासी फेंक कर जितनी ख़ुशी होती है उतनी और किसी चीज़ से नहीं होती। नम्रता एक चीज़ है और खिन्नता दूसरी ही चीज़। नम्रता एक दिव्य गति है और खिन्नता है अन्धकारमयी शक्तियों की बहुत ही अनगढ़ अभिव्यक्ति। इसलिए अपनी कठिनाइयों का प्रसन्नता के साथ सामना करो, निरन्तर प्रसन्नता के साथ रूपान्तर के मार्ग में आने वाली बाधाओं का मुक़ाबला करो। दुश्मन को खदेड़ने का सबसे अच्छा तरीक़ा है उसके मुँह पर हँसना! तुम उसके साथ कई-कई दिनों तक भिड़ते और टकराते रहो और उसकी शक्ति ज़रा भी कम होती हुई न दीखेगी; बस एक बार उसके सामने हँस दो और वह दुम दबा कर भाग जायेगा! आत्मविश्वास से और भगवान् पर श्रद्धा से भरी हँसी दुश्मन को सबसे अधिक तहस-नहस कर देने वाली शक्ति है—वह शत्रु के मोर्चे को तोड़ देती है, उसकी सेनाओं में खलबली मचा देती है और तुम्हें विजयी के रूप में आगे बढ़ाती है।

परिवर्तित प्राण सिद्धि पाने की प्रक्रिया में आनन्द का अनुभव करता

है। वह इस प्रक्रिया में आने वाली कठिनाइयों को बड़े उत्साह के साथ स्वीकार करता है। वह सबसे अधिक प्रसन्न तब होता है जब उसे 'सत्य' के दर्शन कराये जायें और उसकी निम्न प्रकृति में मिथ्यात्व के खेल को खोल कर सामने रख दिया जाये। वह योग पीठ पर भारी बोझ ढोने के रूप में नहीं, बल्कि एक आनन्ददायक कार्य के रूप में करता है। वह ख़ुशी-ख़ुशी अधिक-से-अधिक सहने के लिए तैयार रहता है यदि यह सहना रूपान्तर की शर्त हो। वह बिना शिकायत किये, बिना बुड़बुड़ाये, ख़ुशी से सब कुछ सहता है क्योंकि यह सहना भगवान् के लिए है। उसे अटल विश्वास होता है कि विजय प्राप्त होगी ही। वह अपने इस विश्वास में क्षण-भर के लिए भी नहीं डिगता कि श्रीअरविन्द ने रूपान्तर का जो महान् कार्य हाथ में लिया है उसकी पूर्णाहुति सफलता में ही होगी। क्योंकि यह वास्तव में एक तथ्य है; हमने जो काम हाथ में लिया है उसके परिणाम के बारे में सन्देह की छाया तक नहीं है। यह कोई परीक्षण-भर नहीं है, बल्कि अतिमानस की अनिवार्य अभिव्यक्ति है। परिवर्तित प्राण को विजय का पूर्वज्ञान होता है, वह प्रगति की ओर संकल्प बनाये रहता है और कभी पीठ नहीं दिखाता। वह अपने-आपको ऐसी शक्ति से भरा हुआ अनुभव करता है जो भगवान् की विजय के बारे में निश्चितता से आती है। उसे यह बोध होता है कि भगवान् उसके अन्दर उपस्थित हैं और जो करना ज़रूरी है वे कर रहे हैं और उसमें शत्रुओं का प्रतिरोध करने और अन्त में उन पर विजय पाने की अविचल शक्ति भरते रहते हैं।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १५२-५५

भौतिक में अभीप्सा

यहाँ "भौतिक" से मेरा मतलब है भौतिक चेतना, बिलकुल साधारण बहिर्मुखी चेतना, अधिकतर मनुष्यों की साधारण चेतना जो ज़्यादा ऊँची चीज़ों के लिए अभीप्सा करने की जगह आराम, अच्छा भोजन, अच्छे कपड़े, सुखद सम्बन्ध आदि को ज़्यादा महत्त्व देती है। भौतिक में भागवत प्रेम के लिए अभीप्सा में यह बात ध्वनित होती है कि भौतिक सिर्फ़ यही अनुभव करना चाहता है कि भगवान् उससे कैसे प्रेम करते हैं, इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं माँगता। वह समझ लेता है कि उसकी सब सामान्य सन्तुष्टियाँ

एकदम अपर्याप्त हैं। लेकिन इसमें समझौता नहीं हो सकता : यदि भौतिक भागवत प्रेम चाहता है तो उसे बस वही चाहना चाहिये, वह यूँ नहीं कह सकता : "मैं भागवत प्रेम भी लूँगा और साथ ही अपनी अन्य आसक्तियों, आवश्यकताओं और उपभोगों को भी बनाये रखूँगा...।"

चैत्य-केन्द्र अभीप्सा का मौलिक निवास-स्थान है जहाँ से वह सत्ता के विभिन्न भागों में प्रकट होती है। जब मैं भौतिक में अभीप्सा की बात कहती हूँ तो इसका मतलब यह होता है कि तुम्हारी वही चेतना जो भौतिक सुख-चैन के लिए लालायित रहती है, तुम्हारी चेतना के उच्चतर भागों के दबाव के बिना, ऐकान्तिक रूप से भागवत प्रेम की माँग करे। साधारणतः तुम्हें अपने उच्चतर भागों के द्वारा उसे दिव्य प्रकाश दिखाना होता है; निस्सन्देह, ऐसा निरन्तर करते रहना ज़रूरी है वरना भौतिक कभी न सीखेगा और अपने-आप सीख सकने से पहले प्रकृति के कई युग-चक्र लग जायेंगे। वास्तव में, प्रकृति के युग-चक्रों का मतलब है कि उसे सब प्रकार की तृप्तियाँ दी जायें और उन्हें निःशेष करके उसे यह विश्वास दिलाया जाये कि उनमें से किसी से उसे सन्तोष नहीं हो सकता, वह अन्दर से सचमुच जिस चीज़ की खोज कर रहा है वह भागवत सन्तोष है। योग में हम प्रकृति की इस धीमी प्रक्रिया को तेज़ कर देते हैं और इस बात पर आग्रह करते हैं कि भौतिक चेतना सत्य को देखे, उसे पहचानना और उसी को चाहना सीखे। लेकिन उसे सत्य का दर्शन कैसे कराया जाये? बस, वैसे ही जैसे तुम अँधेरे कमरे में रोशनी लाते हो। अपनी भौतिक चेतना में अपने अधिक परिष्कृत भागों के अन्तर्भास और अभीप्सा के द्वारा प्रकाश करो और तब तक करते रहो जब तक उसे यह प्रतीति न हो जाये कि सामान्य निचली चीज़ों की भूख कितनी व्यर्थ और असन्तोषजनक है, और वह सहज रूप से सत्य की ओर न मुड़ चले। और जब वह सत्य की ओर मुड़ जायेगी तो तुम्हारा सारा जीवन ही बदल जायेगा—अचूक अनुभव है यह।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १४५-४६

कठिनाइयाँ तथा 'कृपा'

तुम्हारी कठिनाई की प्रकृति यह बताती है कि तुम किस प्रकार की विजय प्राप्त करोगे, तुम योग में कौन-सी विजय के उदाहरण बनोगे।

उदाहरण के लिए, अगर स्वार्थपरता बनी रहती है तो इससे यह पता चलता है कि भविष्य में विश्व-व्यापकता तुम्हारी सबसे बड़ी उपलब्धि होगी। और, जब तुम्हारे अन्दर स्वार्थपरता है तो तुम उसे, उस कठिनाई को, उसके विपरीत तत्त्व में, पूर्ण विशालता की विजय में बदलने की क्षमता भी रखते हो।

जब तुम्हें कोई चीज़ उपलब्ध करनी हो तो तुम्हारे अन्दर उस चीज़ से ठीक उलटे विशेष लक्षण होंगे। उस कठिनाई या दोष का सामना होने पर तुम कहते हो : "ओह! मैं ऐसा हूँ! कैसी बुरी बात है!" परन्तु तुम्हें वस्तु-स्थिति के सत्य को देख सकना चाहिये। तुम्हें अपने-आपसे कहना चाहिये : "मेरी कठिनाई मुझे स्पष्ट रूप से बताती है कि संसार में मुझे किस चीज़ का प्रतिनिधित्व करना है। इस चीज़ का पूर्ण निषेध करना, इसके एकदम दूसरे छोर को सिद्ध करना ही मेरा लक्ष्य है।"

सामान्य जीवन में भी हमें इस प्रकार के विपरीत अनुभव होते हैं। जो बहुत ज़्यादा डरपोक होता है, जिसमें परिस्थितियों का सामना करने की ज़रा भी हिम्मत नहीं होती, वही सबसे अधिक सहन कर सकता है!

जिसमें भगवान् के लिए अभीप्सा है, उसके सामने जो कठिनाई हमेशा खड़ी रहती है, उसके लिए वह कठिनाई ही वह द्वार है जिससे वह निजी तरीक़े से भगवान् को पायेगा : यह भगवान् को पाने के लिए उसका अपना मार्ग होगा।

और यह भी तथ्य है कि अगर किसी के आगे हज़ारों कठिनाइयाँ आती हैं तो उसे बहुत सारी उपलब्धियाँ प्राप्त होंगी—बशर्ते कि धैर्य और सहनशक्ति हो और वह अपने अन्दर इन दोषों के विरुद्ध अभीप्सा की अग्नि जगाये रहे।

और याद रखो : सामान्यतः भगवान् की कृपा भी तुम्हारी कठिनाइयों के अनुपात में होती है।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १५६-५७

श्रीमाँ के प्रति स्वयं को उद्घाटित रखो, हमेशा उनका स्मरण करते रहो और अन्य सभी प्रभावों को त्याग कर, हमेशा उन्हीं की 'शक्ति' को अपने अन्दर कार्य करने दो—योग का यही नियम है।

CWSA खण्ड २९, पृ. १०९ **श्रीअरविन्द**

सच्चा आध्यात्मिक जीवन

कामनाएँ और सच्ची स्वतन्त्रता

समर्पण के विषय में बहुत से भ्रान्त विचार फैले हुए हैं। ऐसा लगता है कि अधिकतर लोग समझते हैं कि समर्पण करने का अर्थ है व्यक्तित्व का विसर्जन, किन्तु यह एक दुखद भूल है। कारण, व्यक्ति के अस्तित्व का प्रयोजन है भागवत चेतना के एक पहलू की अभिव्यक्ति, और इस पहलू के स्वभावगत धर्म के प्रकाशन से ही उसके व्यक्तित्व की रचना होती है। इसलिए भगवान् की ओर उचित भाव रखने से यह व्यक्तित्व क्षीण और विकृत करने वाले निम्न प्रकृति के प्रभावों से मुक्त हो जाता है और अधिक शक्तिसम्पन्न होकर, अपने स्वरूप में अधिक प्रतिष्ठित होता है और अधिक पूर्ण बन जाता है। उसके व्यक्तित्व का सत्य और सामर्थ्य अपने अधिक विशिष्ट रूप में चमकने लगते हैं, उसका चरित्र अधिक यथार्थ रूप में प्रत्यक्ष होता है जैसा कि उस समय सम्भव न होता जब वह सारे अज्ञान और अन्धकार से, निम्न प्रकृति की सारी गन्दगी और खोट से मिला हुआ था। अब उसका व्यक्तित्व ऊँचाई में और महिमा में बढ़ने लगता है, उसकी क्षमता में वृद्धि हो जाती है तथा उसकी अधिकतर सम्भावनाएँ सिद्ध होने लगती हैं। परन्तु यह उदात्त करने वाला परिवर्तन लाने के लिए व्यक्ति को पहले उस सबका त्याग करना होगा जो सत्य स्वभाव को विकृत, सीमित और तमोग्रस्त करके उसके सच्चे व्यक्तित्व को बन्धन में डालता, नीचे की ओर गिराता और विरूप बनाता है; उसे अपने-आपमें से उन सब तत्त्वों को निकाल फेंकना होगा जो साधारण मनुष्य की अज्ञानमयी, निम्न क्रियाओं से तथा उसके अन्धे, लँगड़े साधारण जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। सबसे पहले उसे अपनी कामनाओं का त्याग करना होगा; कारण, कामना निम्न प्रकृति की सबसे अधिक तमसाच्छन्न क्रिया है और यह मनुष्य को सबसे अधिक तमसाच्छन्न कर देती है। कामनाएँ दुर्बलता और अज्ञान की गतियाँ हैं और ये तुम्हें तुम्हारी दुर्बलता तथा अज्ञान से बाँधे रखती हैं। लोगों की धारणा है कि कामनाएँ उनके अपने अन्दर उत्पन्न होती हैं, वे महसूस करते हैं कि ये या तो उनके अपने-आपमें से पैदा होती हैं या उनके अपने अन्दर उठती हैं, किन्तु यह एक भूल है। कामनाएँ अन्धकारग्रस्त निम्न प्रकृति के विशाल

समुद्र की लहरें हैं और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में आती-जाती रहती हैं। मनुष्य कामना को अपने-आपमें पैदा नहीं करते, बल्कि ये लहरें उन पर चढ़ आया करती हैं, जो कोई इनके लिए खुला हो या जिसने अपने बचाव का प्रबन्ध न किया हो वह इनकी पकड़ में आ जाता है और इनके थपेड़ों को खाता हुआ इधर से उधर डोलता रहता है। कामना मनुष्य को अभिभूत करके, उस पर अधिकार जमा कर, उसे विवेक करने-लायक़ नहीं रहने देती और उसमें ऐसी धारणा पैदा कर देती है कि इसकी अभिव्यक्ति करना भी उसके अपने स्वभाव का एक अंग ही है। पर सच तो यह है कि मनुष्य के सच्चे स्वभाव के साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। ईर्ष्या, डाह, घृणा और हिंसा आदि सभी निम्नतर आवेगों के सम्बन्ध में यही बात है। ये भी वे गतियाँ हैं जो तुम्हें पकड़ लेती हैं, वे लहरें हैं जो तुम पर चढ़ आती और तुम्हें पराजित करती हैं; इनका सच्चे चरित्र या सच्चे स्वभाव से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि ये तो उन्हें विरूप बना देती हैं। ये तुम्हारा वास्तविक या अविभाज्य अंग नहीं हैं, बल्कि ये इर्द-गिर्द के उन अन्धकारमय समुद्रों से आती हैं जिनमें निम्न प्रकृति की शक्तियाँ विचरण करती हैं। इन कामनाओं में, इन आवेशों में कोई व्यक्तित्व नहीं होता, इनमें तथा इनकी क्रियाओं में ऐसी कोई चीज़ नहीं होती जो तुम्हारे लिए विशेष हो, ये इसी रूप में सबके अन्दर प्रकट होती हैं। मन की अज्ञानमय गतियाँ, व्यक्तित्व को ढक देने वाली तथा उसकी वृद्धि और सार्थकता को क्षीण करने वाली भ्रान्तियाँ, सन्देह और कठिनाइयाँ भी, इसी स्रोत से आती हैं। ये गुज़रती हुई लहरें हैं और जो कोई इनकी पकड़ में आने के लिए और अन्धे उपकरण की तरह काम आने के लिए तैयार हो उसे पकड़ लेती हैं। फिर भी, प्रत्येक मनुष्य यह विश्वास लिये फिरता है कि ये गतियाँ उसका अपना अंग और उसके अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की बहुमूल्य उपज हैं।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १३१-३३

चैत्य सत्ता में निवास करो

चैत्य में रहने का अर्थ है सब प्रकार की लोभ-लालसा से ऊपर उठ जाना। तुम्हारे अन्दर कोई ललक, कोई चिन्ता, कोई उत्तेजना-भरी लालसा न होगी और तुम यह अनुभव करोगे कि जो होता है अच्छे-से-अच्छे के

लिए होता है। मुझे ग़लत मत समझो, इसका यह अर्थ न लगाओ कि तुम्हें यह मान लेना चाहिये कि हर चीज़ अच्छे-से-अच्छे के लिए ही है। जब तक तुम सामान्य चेतना में हो तब तक हर चीज़ अच्छे-से-अच्छे के लिए नहीं होती। जब तुम चेतना की सच्ची अवस्था में नहीं होते तब तुम्हें एकदम ग़लत रास्तों पर भटकाया जा सकता है। लेकिन एक बार तुम चैत्य में सन्तुलित हो जाओ और भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण कर दो तो फिर जो कुछ होगा अच्छे-से-अच्छे के लिए होगा, तब हर चीज़, चाहे वह किसी भी छद्म रूप में क्यों न हो, निश्चित रूप से भगवान् का उत्तर होगी।

वास्तव में, सच्चे आत्म-समर्पण की क्रिया अपने-आपमें अपना प्रत्यक्ष पुरस्कार है—वह अपने साथ ऐसा आनन्द, ऐसा विश्वास, ऐसा संरक्षण लाता है जो और किसी चीज़ से नहीं मिल सकता। लेकिन जब तक आत्म-समर्पण पूरी तरह से चैत्य न हो तब तक गड़बड़ होती रहेगी, प्रकाशमान क्षणों के बीच अन्धकारमय क्षण आते रहेंगे। केवल चैत्य ही सीधी प्रगति करता जाता है, उसकी गति लगातार चढ़ाई की होती है। अन्य सभी गतियाँ टूटी हुई और अनिश्चित रहती हैं। और तुम तब तक सच्चे व्यक्ति भी नहीं बन सकते जब तक कि तुम चैत्य को ही अपना 'स्व' न अनुभव करो क्योंकि सचमुच वही तुम्हारे अन्दर सच्चा रूप है। जब तक तुम अपने सच्चे रूप को न जान लो तब तक तुम एक सत्ता नहीं, एक सार्वजनिक स्थान हो। तुम्हारे अन्दर बहुत सारी आपस में टकराती हुई शक्तियाँ काम करती हैं। इसलिए, अगर तुम सच्ची प्रगति करना चाहो तो अपनी निजी सत्ता को जानो जिसका हमेशा भगवान् के साथ ऐक्य रहता है और तभी रूपान्तर सम्भव होगा। तुम्हारी प्रकृति के बाक़ी सभी भाग अज्ञानी होते हैं : उदाहरण के लिए, मन हमेशा यह सोचने की भूल करता है कि हर प्रतिभाशाली विचार ज्योतिर्मय विचार है। वह एक से उत्साह के साथ भगवान् के पक्ष और विपक्ष में युक्तियाँ दे सकता है : उसके अन्दर सत्य की भ्रमातीत भावना नहीं होती। प्राण साधारणतः किसी भी शक्ति-प्रदर्शन से प्रभावित हो जाता है और उसमें भगवान् के दर्शन करने के लिए तैयार रहता है। केवल चैत्य में ही सच्चा विवेक होता है। वह सीधे-सीधे परम सत्ता के बारे में सचेतन होता है, वह बिना किसी भ्रम के भगवान् और उनसे इतर में फ़र्क कर सकता है। अगर क्षण-भर के लिए भी तुम्हारा उसके साथ

सम्पर्क हो चुका है तो तुम्हें भगवान् के बारे में ऐसा दृढ़ विश्वास होगा जिसे कोई नहीं हिला सकता।

अपनी सच्ची सत्ता का अन्वेषण करना

तुम पूछोगे कि हम अपनी सच्ची सत्ता को कैसे जानें? उसके लिए माँग करो, उसके लिए अभीप्सा करो। उसके लिए ऐसी चाह करो जैसी और किसी चीज़ के लिए न हो। यहाँ तुममें से अधिकतर लोग उससे प्रभावित हैं, लेकिन यह प्रभाव से कुछ अधिक होना चाहिये। तुम्हें उसके साथ एकता का अनुभव करना चाहिये। पूर्णता की प्यास वहीं से आती है, लेकिन तुम उसके स्रोत से अपरिचित हो, तुम उसे ज्ञानपूर्वक सहयोग नहीं दे रहे, तुम प्रकाश के साथ एक नहीं हो। यह न समझो कि जब मैं चैत्य की बात करती हूँ तो मेरा मतलब भावनामय भाग से है। भावना उच्चतर प्राण की चीज़ है, चैत्य की नहीं। चैत्य तुम्हारे अन्दर जलने वाली निष्कम्प ज्वाला है जो हमेशा भगवान् की ओर उठती है, उसमें शक्ति का भाव होता है जो सारे विरोध को तोड़ देता है। जब तुम उसके साथ एक होते हो तो तुम्हें भागवत सत्य की अनुभूति होती है—तब तुम यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि सारी दुनिया अज्ञान में सिर के बल चल रही है और उसके पैर हवा में हैं!

तुम जिसे अपना व्यक्तिगत अहं मानते हो उसे अपने चैत्य व्यक्तित्व के साथ एक करना सीखना होगा। तुम्हारा वर्तमान व्यक्तित्व बहुत ज़्यादा मिश्रित है, परिवर्तनों की एक शृंखला है जिसमें बहाव के होते हुए भी एक निरन्तरता, एक अभिन्नता और स्पन्दनों का तादात्म्य है। यह एक नदी-जैसा है जो कभी वही-की-वही नहीं रहती, फिर भी उसमें एक निश्चितता और अपना स्थायित्व होता है। तुम्हारा सामान्य व्यक्तित्व तुम्हारे सच्चे व्यक्तित्व की छाया-मात्र होता है। तुम उस सच्चे व्यक्तित्व का अनुभव तभी कर सकते हो जब तुम्हारा प्रकट व्यक्तित्व, जो अलग-अलग समय अलग-अलग स्थानों में मँडराता है—कभी मन में तो कभी प्राण में और कभी शरीर में—चैत्य पुरुष के साथ सम्पर्क में आ सके और अनुभव करे कि वही वास्तविक सत्ता है। तब तुम एक बन सकोगे, कोई चीज़ तुम्हें हिला न सकेगी, बाधा न दे सकेगी, तुम स्थिर और स्थायी प्रगति कर सकोगे और

भोजन के लिए लोभ जैसी छोटी-छोटी चीज़ों से ऊपर उठ जाओगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १३९-४१

भगवान् के साथ ऐक्य

जो शक्ति अज्ञान में समा कर प्राणिक इच्छाओं का रूप लेती है वह वही है जो अपने शुद्ध रूप में रूपान्तर की ओर बढ़ने और गति करने की प्रेरणा और ऊर्जा देती है। इसलिए एक ओर, तुम्हें यह सोच कर कि उन्हें सन्तुष्ट करना ज़रूरी है, इच्छाओं और कामनाओं में खुल खेलने से सावधान रहना चाहिये, और दूसरी ओर प्राणिक शक्ति को सुनिश्चित, अशुभ शक्ति मान कर उसे त्यागने से भी बचना चाहिये। तुम्हें करना यह चाहिये कि अपनी सत्ता के द्वार भगवान् की ओर पूरी तरह से खोल दो। जिस क्षण तुम कुछ छिपाते हो उसी क्षण सीधे 'मिथ्यात्व' में जा गिरते हो। तुम्हारी ओर से ज़रा-सा दबा देना भी तुम्हें सीधा अचेतना में घसीट लेता है। अगर तुम पूरी तरह सचेतन होना चाहते हो तो हमेशा 'सत्य' के सामने रहो—अपने-आपको पूरी तरह खोल दो और भरसक कोशिश करो कि वह तुम्हारे अन्दर गहराई में सत्ता के एक-एक कोने को देख सके। इसी से तुम्हारे अन्दर प्रकाश और सचेतनता आयेगी और वह सब आयेगा जो सत्य है। पूरी तरह विनयशील बनो—अर्थात्, तुम जो हो और तुम्हें जो होना चाहिये उन दोनों के बीच की दूरी को जानो। अपने अनगढ़ भौतिक मन को यह न सोचने दो कि वह जानता है जब कि वह नहीं जानता, कि वह निर्णय कर सकता है जब कि कर नहीं सकता। विनय में यह बात भी आ जाती है कि तुम अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को सौंप दो। उनसे सहायता माँग कर और अपने-आपको समर्पित करके स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व का अभाव प्राप्त कर लो। इससे मन को पूरी शान्ति मिलती है। किसी और तरीक़े से तुम 'भागवत चेतना' और 'भागवत संकल्प' के साथ ऐक्य पाने की आशा नहीं कर सकते।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १४७-४८

समर्पण का सच्चा मानदण्ड

आत्म-समर्पण में, चाहे वह 'विश्व रूप' के सम्मुख हो या 'परात्पर' के, सबसे बड़ी बाधा है व्यक्ति का अपनी सीमाओं से अनुराग। यह एक स्वाभाविक प्रेम है, क्योंकि व्यक्तिगत सत्ता की रचना में ही सीमाओं पर केन्द्रित होने की वृत्ति रहती है। उसके बिना, अलगाव का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता—सब कुछ मिला-जुला रहता, जैसा कि प्रायः मन और प्राण की चेतनाओं की गति में होता है। शरीर ही इतना अधिक द्रव न होने के कारण अलग व्यक्तित्व बनाये रखता है। लेकिन एक बार यह अलगाव स्थापित हो जाये तो उसे खोने का भय घुस आता है—कई दृष्टियों से यह एक स्वस्थ वृत्ति है, परन्तु जब यह भगवान् से भी अलग रहना चाहती है तो इसका दुरुपयोग होता है। क्योंकि, तुम भगवान् में अपना व्यक्तित्व सचमुच खोते नहीं हो : तुम केवल अपने अहंकार को छोड़ते हो और सच्चे व्यक्ति बनते हो, दिव्य व्यक्ति बनते हो जो भौतिक चेतना की रचना की तरह अस्थायी नहीं होता, जिसे सामान्यतः अपना *स्व* माना जाता है। भागवत चेतना का ज़रा-सा स्पर्श मिलते ही तुम देखते हो कि इसमें कोई घाटा नहीं है। उसके विपरीत, तुम एक ऐसा व्यक्तिगत स्थायित्व पा लेते हो जो सैकड़ों शरीरों की मृत्यु और प्राण-मन के विकास के सभी प्रकार के उतार-चढ़ाव के बावजूद कायम रहता है। इस रूपान्तरकारी स्पर्श के बिना तुम हमेशा भयभीत रहते हो; और यह साथ हो तो तुम्हारे अन्दर ऐसी शक्ति आ जाती है कि तुम अपनी भौतिक सत्ता को भी उसके व्यक्तित्व को खोये बिना नमनीय बना सकते हो। अब भी, वह पूरी तरह जड़ तो नहीं है, वह दूसरों की सचेतन गतियों को एक प्रकार की सहानुभूति के द्वारा अनुभव कर सकता है। यह सहानुभूति उनके सुख-दुःख के प्रति स्नायविक प्रतिक्रिया का रूप ले लेती है : वह तुम्हारी आन्तरिक गतियों को प्रकट कर सकती है—यह तो जानी हुई बात है न, कि चेहरा मन का सूचक या दर्पण होता है। लेकिन केवल भागवत चेतना ही शरीर को पर्याप्त रूप से अनुकूल बना सकती है ताकि वह अतिमानसिक अमरता की सभी गतियों को प्रतिबिम्बित कर सके और सच्ची अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति बन सके और अपने-आप दिव्य बन कर, उस परम व्यक्तित्व के शिखर तक जा पहुँचे जो भौतिक रूप से भी मृत्यु और विघटन की आवश्यकता से ऊपर उठ सके। **'श्रीमातृवाणी'** खण्ड ३, पृ. १८१-८२

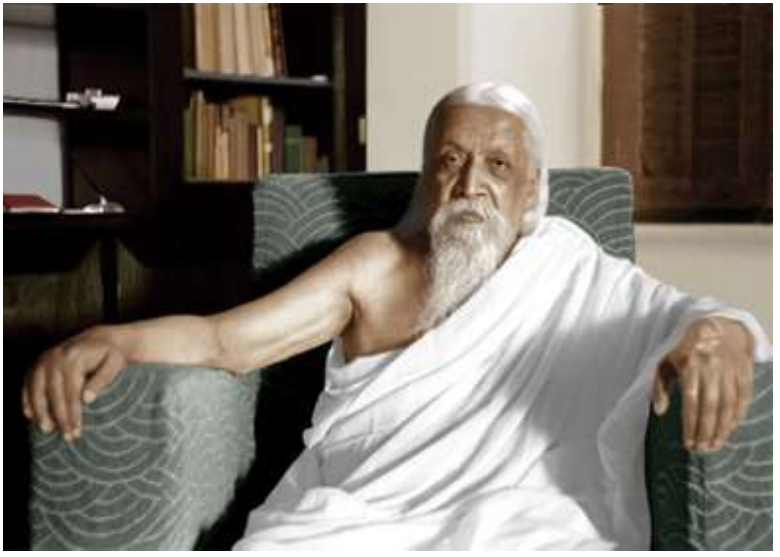

पार्थिव चेतना के विकास में अतिमानसिक परिवर्तन एक अपरिहार्य और आदेशित वस्तु है क्योंकि इसका ऊर्ध्वमुखी आरोहण समाप्त नहीं हुआ है और मन इसका अन्तिम शिखर नहीं है। लेकिन वह परिवर्तन आ सके, रूप ले सके, सहन कर सके, इसके लिए आवश्यकता है नीचे से पुकार की, उसे मान्यता देने की, और जब प्रकाश आये तो उसे अस्वीकार न करने की और वहाँ आवश्यक है, ऊपर से सर्वोच्च प्रभु की स्वीकृति की। वह शक्ति जो उस स्वीकृति और पुकार के बीच मध्यस्थता करती है, वह दिव्य माँ की उपस्थिति और शक्ति है। कोई भी मानव-प्रयास या तपस्या नहीं, केवल माँ की शक्ति ही उस ढक्कन को तोड़ कर, आवरण को चीर कर, मानव-पात्र को रूप दे सकती है और अन्धकार, मिथ्यात्व, मृत्यु तथा दुःख-दर्द के इस जगत् में 'सत्य' और 'प्रकाश' तथा 'दिव्य' जीवन और अमर्त्य 'आनन्द' उतार ला सकती है।

CWSA खण्ड ३२, पृ. २६ **श्रीअरविन्द**

पूर्ण योग की कुञ्जी

प्रकाश तथा पुकार के प्रति निष्ठावान् बने रहना

जब मैंने अन्तरात्मा के प्रकाश और भागवत पुकार के प्रति निष्ठावान् बने रहने की बात की थी... तो मैं सभी संकटों और प्रहारों के दौरान इसकी महान् आवश्यकता के बारे में सुझाव दे रहा था—यानी तुम्हें ऐसे सभी सुझावों, आवेशों, आकर्षणों पर कान देने से एकदम इन्कार कर देना चाहिये जो 'सत्य' की पुकार का, 'प्रकाश' के अनिवार्य संकेत का विरोध करें। सभी सन्देहों और निराशा के समय तुम्हें यह कहना चाहिये, "मैं भगवान् का हूँ, मैं असफल नहीं हो सकता"; अपवित्रता और अनुपयुक्तता के सभी विचारों को यह उत्तर देना चाहिये, "मैं श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के द्वारा चुना हुआ शाश्वतता का बालक हूँ; मुझे बस अपने और उनके प्रति सच्चा बनना है—विजय सुनिश्चित है; अगर मैं गिरा भी तो, निश्चय ही मैं फिर से उठ जाऊँगा"; उन सभी आवेगों को, जो किसी और आदर्श की सेवा करने के लिए मुड़ जायें, तुम्हें कहना चाहिये, "नहीं, वह नहीं, यही महानतम है, यही 'सत्य' है, केवल यही मेरी आन्तरिक आत्मा को सन्तुष्ट कर सकता है; भागवत यात्रा के अन्त तक मैं सभी अग्नि-परीक्षाओं और विपत्तियों को सहूँगा।" 'प्रकाश' और 'पुकार' के प्रति निष्ठावान् बने रहने का मेरा यही अर्थ था।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १०४

श्रीमाँ तथा श्रीअरविन्द के प्रति उद्घाटन

हम चाहें श्रीअरविन्द को लिखें या श्रीमाँ को, क्या यह एक ही बात है? कुछ लोग कहते हैं कि दोनों एक ही हैं, इसलिए चाहे हम श्रीअरविन्द को लिखें या माँ को, हम माँ की ओर ही खुले होते हैं। क्या यह ठीक है?

यह सत्य है कि हम दोनों एक ही हैं, पर सम्बन्ध का अस्तित्व भी है, जिसके कारण यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति माताजी की ओर खुला हो।

क्या यह हो सकता है कि एक व्यक्ति जो श्रीअरविन्द की ओर खुला

है, माँ की ओर खुला न हो? क्या यह बात ठीक है कि जो कोई भी श्रीमाँ की ओर खुला हो, वह श्रीअरविन्द की ओर भी खुला है?

श्रीमाँ के बारे में कथन सही है। यदि कोई श्रीअरविन्द की ओर खुला है, लेकिन माताजी की ओर नहीं, तो उसका अर्थ यह है कि वास्तव में वह श्रीअरविन्द की ओर भी खुला हुआ नहीं है।

प्रायः ही श्रीअरविन्द कहते हैं कि व्यक्ति को श्रीमाँ की शक्ति को शासन करने देना चाहिये। क्या इसका यह अर्थ है कि दोनों की शक्तियों में कुछ भेद है?

केवल एक ही शक्ति है, माताजी की शक्ति—या, यदि तुम इसे यों कहना चाहो, माताजी श्रीअरविन्द की शक्ति हैं।

किसी ने मुझसे कहा : "जब मैं यहाँ आया था, श्रीअरविन्द योग के बारे में कभी हमें कुछ नहीं सिखाया करते थे। वे हमें हमारे अपने ज्ञान का अनुसरण करने को कहा करते थे।" क्या ऐसी ही बात थी?

मुझे इस बारे में कोई जानकारी नहीं है। लेकिन अब भी श्रीमाँ सिखाती नहीं हैं, वे सभी से उद्घाटित होने और ग्रहण करने के लिए कहती हैं। लेकिन वे उन्हें बाक़ायदा शिक्षा नहीं देतीं और मुझे नहीं लगता कि मैंने कभी लोगों से उनके अपने "ज्ञान" का अनुसरण करने को कहा हो।

उनके प्रभाव को ग्रहण करना

श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के प्रभाव को ग्रहण करने के लिए श्रद्धा के साथ-साथ आवश्यकता है बस आध्यात्मिक पथ का अनुसरण करने के लिए पूर्ण सच्चाई और प्रभाव के प्रति खुलने के लिए संकल्प तथा सामर्थ्य की; लेकिन सामान्यतः यह सामर्थ्य सच्चाई तथा श्रद्धा के परिणाम-स्वरूप आता है।

आश्रम के बाहर रह कर भी योग का अनुसरण करना पूरी तरह सम्भव है। उत्तर तथा दक्षिण भारत में, दोनों जगह, ऐसे बहुत हैं जो यह करते हैं।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १०४-०५, १०६ **श्रीअरविन्द**

तुम्हें बस अभीप्सा करनी चाहिये, अपने-आपको श्रीमाँ के प्रति खुला रखो, उन सभी चीज़ों का त्याग कर दो जो श्रीमाँ की इच्छा का विरोध करें और उन्हें अपने अन्दर कार्य करने दो—अपने सभी काम उन्हीं के लिए करो और इस श्रद्धा के साथ करो कि उन्हीं की शक्ति के द्वारा तुम कार्य करने में समर्थ हो। अगर तुम इस तरह खुले रहो तो समय के साथ-साथ तुम ज्ञान तथा उपलब्धि प्राप्त कर लोगे।

*

आत्म-समर्पण की उचित मनोवृत्ति के साथ स्वयं को श्रीमाँ के प्रति उद्घाटित रखो और धीरे-धीरे तुम माँ से वह सब प्राप्त कर लोगे जिसकी तुम्हें अपने अन्दर आवश्यकता है।

*

... चैत्य रूप से श्रीमाँ के प्रति उद्घाटित रहने से कार्य या साधना के लिए जो कुछ ज़रूरी हो वह धीरे-धीरे विकसित होता रहता है—यह साधना के मुख्य रहस्यों में से एक है, सचमुच साधना का केन्द्रीय रहस्य है।

*

तुम्हारे अन्दर ऐसा कोई भाग नहीं है जो उद्घाटित नहीं है, लेकिन तुम्हें हमेशा उस उद्घाटन को अधिक विस्तृत और अधिक पूर्ण बनाना होता है, लेकिन यह भी क्रमशः किया जा सकता है अगर तुम सारे समय श्रीमाँ का स्मरण करो, उनकी शक्ति को पुकारो, साथ ही आश्वस्त, जागरूक और समर्पित बने रहो—जैसा कि तुम हो और हमेशा से रहे हो।

*

तुम्हारे पत्र के उत्तर में श्रीअरविन्द[१] का कहना है कि तुम अपने हृदय में श्रीमाँ पर ध्यान लगा सकते और उन्हें पुकार सकते हो—उनका स्मरण करो और अपना सारा जीवन, समस्त विचार और सभी क्रियाओं को उन्हें समर्पित कर दो। अगर तुम चाहो तो तुम उनके नाम का जप कर सकते हो। अपनी सत्ता को शुद्ध करने और अपनी प्रकृति को बदलने के लिए तुम उनका आह्वान कर सकते हो।

या फिर तुम एकाग्रचित्त होकर, ऊपर से पहले श्रीमाँ की अचञ्चलता तथा शान्ति, फिर उनकी शक्ति, प्रकाश तथा उनके आनन्द को नीचे उतरने

[१] श्रीअरविन्द द्वारा अपने सचिव को लिखा पत्र जिसे सचिव ने प्रश्नकर्ता को भेजा।

के लिए टेर लगा सकते हो। ये चीज़ें मस्तक के ऊपर हमेशा रहती हैं —लेकिन मानव-मन के लिए ये अतिचेतना में होती हैं—तुम अपनी अभीप्सा तथा एकाग्रचित्तता के द्वारा उनके प्रति सचेत हो सकते हो, तब तुम्हारा शरीररूपी आधार उनके प्रति खुल सकता है ताकि ये चीज़ें उतर कर तुम्हारे मन, प्राण तथा शरीर में प्रवेश कर सकें।

*

श्रीमाँ के प्रति **पूरी तरह से** उद्घाटित होने के लिए तुम्हें अन्दर और बाहर दोनों तरह से खुला रहना चाहिये। तुम्हें एकदम स्पष्टवादी होकर उनसे सब कुछ कह देना चाहिये—जो कुछ तुम्हारे अन्दर हो उसे उन्हें सहजता तथा सरलता के साथ कह देने में कभी हिचकिचाओ मत। इस तरह तुम एकदम पूरी तरह से उद्घाटित हो सकोगे और श्रीमाँ भी पूर्ण रूप से तुम्हारी सहायता कर पायेंगी।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १५४-५५ **श्रीअरविन्द**

भगवान् द्वारा सब कुछ किया जा सकता है—हृदय और स्वभाव शुद्ध किये जा सकते हैं, आन्तरिक चेतना जाग्रत् की जा सकती तथा परदे दूर किये जा सकते हैं—यदि कोई भरोसे और विश्वास के साथ अपने को भगवान् के हाथों में अर्पण कर दे और यदि कोई तुरन्त पूर्ण रूप से ऐसा न कर सके फिर भी, जितना अधिक वह ऐसा कर सकेगा उतना ही अधिक आन्तरिक साहाय्य और पथ-प्रदर्शन उसे प्राप्त होगा तथा उसके अन्दर भगवान् का अनुभव बढ़ेगा। यदि सन्देहशील मन कम सक्रिय हो जाये और विनम्रता तथा समर्पण का संकल्प बढ़े तो ऐसा करना पूर्णतः सम्भव हो सकता है। तब एकमात्र इस वस्तु के सिवा किसी दूसरी शक्ति और तपस्या की आवश्यकता नहीं होती।

CWSA खण्ड २९, पृ. ६९ श्रीअरविन्द

मैं ध्यान ही नहीं कर पाता, क्योंकि जब मैं बैठता हूँ तो कई विचार मेरे अन्दर घुस आते हैं। मुझे कौन-सा पथ अपनाना चाहिये, ताकि मैं प्रगति कर सकूँ और श्रीमाँ के लिए आसान बना दूँ कि वे मेरे अन्दर अपना कार्य कर सकें?

अगर तुम ध्यान न कर पाओ तो प्रार्थना करो। जो कुछ तुम करो उसे माताजी को समर्पित कर दो और उनसे प्रार्थना करो कि वे तुम्हारी क्रियाओं और तुम्हारे स्वभाव को अपने नियन्त्रण में ले लें।

माताजी से प्रेम करो, उनकी आराधना करो। आवश्यकता है पूरी तरह उद्घाटित होने की ताकि तुम माताजी के प्रति सचेतन बन सको। प्रेम और आराधना उद्घाटन ले आयेंगे। लेकिन, अगर समय लगे तो उदासी में न डूब जाओ, हताशा और विद्रोह को पास न फटकने दो—क्योंकि ये चीज़ें उद्घाटन के रास्ते आड़े आती हैं।

*

सारी बात है स्वयं को माताजी के प्रति उद्घाटित रखने की। निर्णायक अनुभूतियों को पाने के लिए स्वभाव को तैयार करने में हमेशा समय लगता है और हताशा या तात्कालिक परिणाम पाने के लिए अधीरता के बिना एक सतत आत्मोद्घाटन होता ही रहना चाहिये।

*

श्रीमाँ पर श्रद्धा-विश्वास और उसके साथ-साथ उनके प्रति पूर्ण उद्घाटन ही सर्वोत्तम पथ है।

*

हे माँ, कब तक आप मुझसे दूर रहेंगी? क्या मैं आपका बालक नहीं हूँ?

माँ कभी भी तुमसे दूर नहीं हैं। अगर तुम अपने-आपको खुला रखो तो तुम हमेशा उन्हें अपने साथ अनुभव करोगे।

*

मेरी प्यारी माँ, मुझे अपने अन्दर रहने दीजिये।

माँ की शान्ति तथा हर्ष के प्रति अपने-आपको उद्घाटित रखो—उसमें रह कर तुम उनके अन्दर निवास करने लगोगे।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १५९-६०

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

नवम्बर

१. मनुष्य के अन्दर संसार की सम्भावनाएँ उसी तरह प्रतीक्षा कर रही हैं जैसे पेड़ बीज में प्रतीक्षा करता है।

२. प्रार्थना, महान् क्रिया और राजोचित विचार, मनुष्य के बल को परात्पर शक्ति के साथ जोड़ सकते हैं।

३. मनुष्य की अन्तरात्मा उसकी नियति से अधिक महान् है।

४. जीवन के पीछे और उसके अन्दर एक नीरवता होती है, और इसी अधिक गुप्त रहस्य में, सहारा देने वाली नीरवता में, हम भगवान् की वाणी स्पष्टता से सुन सकते हैं।

५. तेरे गुण ऐसे न हों जिनकी लोग प्रशंसा करते या जिन पर पुरस्कार देते हैं। गुण ऐसे हों जो तेरी पूर्णता लाते हैं, तेरी प्रकृति में भगवान् जिनकी माँग करते हैं।

६. आराधना करो और जिसकी आराधना करो, वही बनने की कोशिश करो।

७. शान्ति से, दृढ़ता से आगे चलो। सफलता से आसक्त न रहो, असफलता से घबराओ मत। तब मेरी दिव्य सहायता तुम्हें कभी निराश न करेगी।

८. श्रीमाँ की सतत उपस्थिति अभ्यास से आती है। साधना में सफलता के लिए भागवत कृपा आवश्यक है, लेकिन अभ्यास, भागवत कृपा के अवतरण के लिए तैयारी करता है। (श्रीअरविन्द)

९. तुम्हें अन्दर जाना सीखना चाहिये और केवल बाह्य चीज़ों में जीना बन्द कर देना चाहिये। मन को स्थिर करो और अपने अन्दर श्रीमाँ के कार्य के बारे में अभिज्ञ होने के लिए अभीप्सा करो। (श्रीअरविन्द)

१०. श्रद्धा एक ऐसी चीज़ है जो तुम्हारे अन्दर प्रमाण या ज्ञान से पहले होती है और वह ज्ञान या अनुभूति तक पहुँचने में तुम्हारी सहायता करती है। अगर कोई प्रमाण नहीं है कि भगवान् हैं, लेकिन अगर मुझे भगवान् पर श्रद्धा है तो मैं भगवान् की अनुभूति तक पहुँच

सकता हूँ। (श्रीअरविन्द)

११. जब तुम सक्रिय रूप से माताजी की शक्ति को न भी बुला सको तब भी तुम्हें भरोसा रखना चाहिये कि वह आयेगी। (श्रीअरविन्द)

१२. निरन्तर आन्तरिक विकास होते रहने पर ही मनुष्य जीवन में सतत नवीनता और अक्षय रस पा सकता है, और कोई सन्तोषजनक उपाय नहीं है। (श्रीअरविन्द)

१३. अपनी प्राण-सत्ता के दरवाज़े पर अब यह नोटिस लगा दो, "कोई मिथ्यात्व यहाँ कभी प्रवेश न करे।" और वहाँ एक सन्तरी तैनात कर दो जो यह निगरानी रखे कि उसका पालन किया जा रहा है। (श्रीअरविन्द)

१४. यदि तुम्हें किसी बाहरी परिवर्तन की आवश्यकता हो तो इसका मतलब है कि तुम आन्तरिक रूप से उन्नति नहीं कर रहे हो क्योंकि जो व्यक्ति आन्तरिक रूप से उन्नति करता है वह सर्वदा एक ही प्रकार की बाहरी अवस्थाओं में रह सकता है।

१५. हर क्षण यह जानने के लिए कि क्या करना चाहिये, कैसे करना चाहिये, बाहर सहारा ढूँढ़ने की जगह अगर तुम अन्दर, भागवत ज्ञान पर एकाग्र होओ और प्रार्थना करो, स्वयं जो कुछ हो, उसे दे दो, जो कुछ करो पूर्णता पाने के लिए करो, तो तुम अनुभव करोगे कि सहारा मौजूद है, रास्ता दिखा रहा है।

१६. हमें पूर्णता की प्यास है। लेकिन उस मानव पूर्णता की नहीं जो अहंकार की पूर्णता है और दिव्य पूर्णता में बाधा देती है।
लेकिन उस एकमात्र पूर्णता की जिसमें शाश्वत सत्य को धरती पर प्रकट करने की शक्ति है।

१७. विरोधी शक्तियों को संसार में सहा जाता है क्योंकि वे मनुष्य की सच्चाई की परख करती हैं। जिस दिन मनुष्य पूरी तरह सच्चा हो जायेगा वे चली जायेंगी, क्योंकि तब उनके अस्तित्व का कोई कारण न रह जायेगा।

१८. अगर तुम अपनी श्रद्धा को अटल और अपने हृदय को हमेशा मेरे प्रति खुला रखो, तो चाहे जितनी बड़ी कठिनाइयाँ क्यों न आयें वे तुम्हारी सत्ता को अधिक पूर्ण बनाने में योगदान देंगी।

१९. तुम्हें इन छोटे-छोटे अनिष्टों के लिए अपने-आपको सन्ताप न पहुँचाना चाहिये। बहुत शान्त बने रहो और ये दुर्घटनाएँ आगे से न होंगी।

२०. अपने मन में अन्तिम विजय की निश्चिति को हमेशा बनाये रखो और रास्ता ज़्यादा छोटा हो जायेगा।

२१. यह कहीं अधिक उपयुक्त होगा कि तुम अपनी वाणी का संयम करो और दूषित और ख़तरनाक विषयों पर बोलने से इन्कार करो।

२२. सुखी और सफल जीवन के लिए पहली शर्त यह है कि व्यक्ति को अपने स्वार्थ को अपना उद्देश्य नहीं बनाना चाहिये।
उसके लिए पहली आवश्यक योग्यताएँ या गुण होने चाहियें :
निर्भीकता, साहस और अध्यवसाय।

२३. पूर्ण विश्वास और कृतज्ञता के साथ भगवान् को पूरी तरह निवेदित होकर ही कठिनाइयों को जीता जा सकता है।

२४. मार्ग पर मनुष्य जो पहली बात सीखता है वह यह है कि देने का आनन्द लेने के आनन्द से बहुत अधिक है।

२५. सब कार्यों को अनुभव का एक विद्यालय होना चाहिये।

२६. अगर हम अपनी चेतना से सारी पराजयवादी मनोवृत्ति को भगा पायें तो हम सिद्धि की ओर एक बड़ी छलाँग लगा पायेंगे।

२७. सबसे अन्धकारपूर्ण दिनों में श्रद्धा ही सबसे निरापद पथ-प्रदर्शक होती है।
धीर, स्थिर आशा मार्ग में बड़ी सहायक होती है।

२८. भगवान् की ओर मुड़ कर किसी शारीरिक अपूर्णता को दूर करने के लिए प्रार्थना करना किसी नैतिक दोष के निवारण की प्रार्थना के समान ही है।

२९. काम शुरू कर दो और श्रद्धा बनाये रखो, तुम्हारी आवश्यकता के अनुसार शक्ति आयेगी। तुम्हारी ग्रहणशीलता तुम्हारी श्रद्धा और विश्वास पर निर्भर करती है।

३०. संसार की सारी असाधारण शक्तियों से बढ़ कर है एक सच्चा निष्कपट हृदय।
जो तुम्हारा भला करता है उससे नाराज़ न होने के लिए चरित्र की उदात्तता की ज़रूरत है।

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

ध्यान की वृत्ति को बनाये रखो

जागने के बाद तुम्हारे दैनिक कार्यक्रम में दूसरी चीज़ है स्नान। ध्यान में हर चीज़ की गिनती हो जाती है; तुम प्रयास करो, दो दिन में परिणाम देख सकोगे। तुम अपने स्नान का पानी अपने अन्दर स्थित भागवत सत्ता को अर्पित कर दो और कहो, "यह जल मेरे अन्दर दिव्य चेतना को हर क्रिया में जगाये।" हर क्रिया ध्यान जैसे प्रयास में अर्पित की जाये और हर क्रिया में तुम्हें अपना जीवन साधारण रीति से नहीं, उच्चतम चेतना में बिताना चाहिये ताकि तुम्हें भागवत पथ-प्रदर्शन मिलता रहे। जब तक कि तुम हमेशा आन्तरिक पथ-प्रदर्शन की खोज न करते रहो और इसे अपने जीवन के क्षण-क्षण का अभ्यास न बना लो और जब तक कि तुम हमेशा यह प्रयास न करते रहो तब तक तुम्हारा ध्यान बहुत उपयोगी न होगा।

उसके बाद आती है दैनिक कसरत। लोग सोचते हैं कि आसन और प्राणायाम ही योग हैं। तुम जानते हो कि हठयोग के बारे में दो प्रामाणिक पुस्तकें हैं, हठयोग प्रदीपिका और घेरण्ड संहिता। हठयोग प्रदीपिका ज़ोरदार शब्दों में कहती है कि जो लोग ध्यान नहीं करते, यानी राजयोग न करके केवल हठयोग करते हैं वे अपना समय नष्ट करते हैं। तो यह जानना बहुत ज़रूरी है कि एक तरह से करने पर आसन व्यायाम होता है और उसी आसन के साथ ध्यान भी हो तो वह योग बन जाता है। ध्यान के बिना यह सम्भव नहीं है। तुम चाहे कुछ भी क्यों न कर रहे हो, 'ज्योति' में तल्लीन रहो। अगर तुम ध्यान की ऐसी अवस्था में रहो, ध्यान की ऐसी चेतना में रहो तो ज़्यादा अच्छा खेल सकोगे, तुम्हारी मांसपेशियाँ ज़्यादा अच्छी तरह विकसित होंगी। तुम्हें यह अनुभव होना चाहिये कि स्वयं तुम अपनी आँखें नहीं खोल रहे, तुम अपना हाथ नहीं उठा रहे। तुम्हारे अन्दर भगवान् तुम्हारी पलक झपका रहे हैं या तुम्हारे हाथ उठा रहे हैं। उनकी ज्योति तुम्हारे अन्दर प्रवेश कर रही है और सारी गतिविधि सचेतन होती जा रही है। फिर तुम्हें देख सकना चाहिये कि तुम अपने दैनिक कार्यक्रम में उसे बनाये रखो। तुम भले ध्यान आधे घण्टे के लिए ही करो, पर ध्यान की वृत्ति को सारे दिन बनाये रखो।

—नवजातजी

वीरता और विशालहृदयता के धनी शिवाजी

शिवाजी न केवल वीरता और पराक्रम के धनी थे बल्कि उन्होंने ऐसा विशाल, उदार और विवेकशील हृदय पाया था कि उनके कार्य सौहार्द और प्रेम-भावना से ओत-प्रोत होते थे। जहाँ एक तरफ़ स्वाभिमान उनमें कूट-कूट कर भरा था वहीं दूसरी ओर नारी जाति के प्रति हमेशा उनके हृदय में अपार श्रद्धा और आदर का भाव हिलोरें लेता रहता था, नारी थी उनके लिए दैवी शक्ति जिसमें वे माँ का रूप देखा करते थे। इसी सन्दर्भ की दो छोटी-छोटी कहानियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं जो शिवाजी के सच्चरित्र का सुन्दर परिचय देती हैं—यह कहानी है दक्षिण भारत के एक बहुत छोटे-से राज्य की, नाम है वल्लारी। उस समय वहाँ की शासिका थीं मलबाई देसाई, पति की मृत्यु के बाद उन्होंने शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली, कार्यकुशला वे शूरता की जीवन्त प्रतिमा थीं। शिवाजी ने इस छोटे-से राज्य पर आक्रमण किया। दिल्ली सल्तनत के दाँत खट्टे करने वाली शिवाजी की सेना के सामने इस पिद्दी-से राज्य की भला क्या बिसात थी, इतने मराठों के सामने मुट्ठी-भर वल्लारी सैनिक कब तक टिके रह पाते भला? फिर भी वे लड़े और ख़ूब लड़े, अन्तिम साँस तक शत्रुओं का सामना करते-करते अपने देश पर मर-मिट गये।

मलबाई बन्दिनी बना कर भी बड़े सम्मान और आदर के साथ शिवाजी के सम्मुख लायी गयीं। दरबार में प्रवेश करते ही मानों एक भूकम्प-सा छा गया। उन्हें देख कर सभी दरबारी जहाँ के तहाँ खड़े रह गये। साक्षात् चण्डीस्वरूपा लग रही थीं मलबाई, क्रोध उनकी आँखों से चू रहा था, होंठ फड़फड़ा रहे थे, सारे शरीर से मानों आग की लपटें उठ रही थीं जो शिवाजी को अपनी लपेट में लेने के लिए व्याकुल हो रही थीं। बन्दिनी रानी शिवाजी के सामने आ गरज उठीं, सारा दरबार दहल उठा—"रे छत्रपति! नारी होने के नाते मेरा इस भाँति परिहास करना शोभनीय है क्या? तुम्हारा राज्य बड़ा है, वल्लारी छोटा। तुम स्वतन्त्र हो, थोड़ी देर पहले हम भी स्वतन्त्र थे और अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए हमने अपनी पूरी शक्ति से लोहा लिया, हमें गर्व है कि हमारे प्रत्येक सैनिक ने वीरता और बहादुरी के साथ लड़ते-लड़ते वीरगति प्राप्त की, किन्तु असमान शक्ति

के सामने पराजय स्पष्ट और निश्चित थी, अतः तुम हम पर हावी होने में सफल हुए, फिर मृत्युदण्ड पाने-योग्य शत्रु के साथ यह सम्मान का नाटक और ढोंग कैसा? मैं बन्दिनी हूँ, मुझे इतने मान-सम्मान के साथ यहाँ लाने का अभिप्राय मेरा अपमान करना नहीं तो और क्या है? छत्रपति! मैं समझती थी कि तुम शायद मेरा यूँ परिहास न करोगे, लेकिन तुम भी औरों के जैसे ठग निकले।"

मलबाई के क्रुद्ध वचन सुन शिवाजी तुरन्त सिंहासन से उठ खड़े हुए। हाथ जोड़ कर, मलबाई की चरणरज माथे पर लगा, शीश नवाये हुए बोले —"देवि! वल्लारी स्वतन्त्र था, स्वतन्त्र है और जब तक शिवा की साँस में साँस है, स्वतन्त्र रहेगा। आपको यहाँ ससम्मान लाने का अभिप्राय यही है कि एक पुत्र अपनी माता के सम्मुख सिर नवा कर उसका आशीर्वाद लेना चाहता था, तेजस्विनी माता जीजाबाई के परलोक-गमन के पश्चात् मैं मातृविहीन, उन सदृश मातृत्व के संरक्षण की छाँव ढूँढ़ता आपके द्वारे पहुँचा। आपके शौर्य की चर्चा सुनी थी, आज अच्छी तरह परख भी लिया, मुझे आपके अन्दर अपनी माँ की उसी तेजोमयी मूर्ति के दर्शन हुए हैं, सम्भवतः यह युद्ध अनिवार्य था, शायद इसके बिना आप मुझे स्वीकार नहीं करतीं, क्योंकि निश्चित रूप से, आप भी माता जीजाबाई की भाँति कसौटी पर कसे बिना किसी को अंगीकार नहीं करेंगी, इसलिए मेरी आपसे यही विनती है कि यदि अपने शिवा के अपराध को क्षमा कर सकें तो उसे अपना पुत्र स्वीकार कर लें"—गद्गदवाणी में अपने हृदय-उद्गार प्रकट कर दिये शिवाजी ने।

शौर्य-शिखा रणचण्डी क्षण-भर में ऐसी वात्सल्यमयी हो उठीं कि आगे बढ़ कर शिवा को इतनी कस कर अपनी बाँहों में जकड़ लिया कि माँ-बेटे का यह अपूर्व और सुखद मिलन देख सम्भवतः स्वर्ग में स्थित जीजाबाई का हृदय भी गद्गद हो उठा हो।

दूसरी कहानी भी शिवाजी की सच्चरित्रता की सुगन्ध लिये हुए है।

एक बार कोंकण प्रदेश पर हमला कर शिवाजी ने उसे जीत लिया। वहाँ के शासक मौलाना अहमद और उनकी सुन्दरी पुत्रवधू को बन्दी अवस्था में शिवाजी के सामने लाया गया। उस अनिन्द्य सुन्दरी के दरबार में प्रवेश

करते ही सारे सभासद् चित्रलिखित से खड़े के खड़े ही रह गये, ऐसे अपूर्व सौन्दर्य के सामने सबकी आँखें चौंधिया गयीं। लाने वाले अनुचर सोनदेव शिवाजी से बोले—"महाराज, पृथ्वी के इस चाँद को मैं आपकी सेवा में लाया हूँ।" शिवाजी भी हतप्रभ उस सौन्दर्य को निहारते रहे और अनायास उनके मुख से निकल पड़ा—"अहो, मैं नहीं जानता था कि संसार में इतना सौन्दर्य हो सकता है!"

काँपते अधरों से भयभीत युवती बोल उठी—"मैं नहीं जानती थी कि शिवाजी के दरबार में..."

शिवाजी तुरन्त सिंहासन से उठ खड़े हुए। युवती के पास जाकर हाथ जोड़ कर बोल उठे—"डरो मत माँ। डरो मत। शिवाजी विलासी नहीं है। तुम्हें देख कर मेरे हृदय में केवल यह भाव उठ रहा था कि अगर तुम मेरी माँ होतीं तो क्या विधाता ने मुझे सौन्दर्य की दौलत देने में कंजूसी की होती। तुम्हारे रूप की चकाचौंध से मेरी आँखों ने एक नया प्रकाश पाया है। कितना भव्य! कितना दिव्य!! यह तो पूजने की वस्तु है माँ।" और शिवाजी युवती के चरणों में झुक गये।

सोनदेव को आग्नेय दृष्टि से घूर कर शिवाजी ने देखा नहीं कि सभा में जीजाबाई ने प्रवेश किया। अपने पुत्र को गले से लगा कर बोलीं—"बेटा शिवा, सोनदेव को दण्ड न दो, इसमें उसका नहीं, तुम्हारी माँ का अपराध है। मैंने ही इसे भेज कर तुम्हारी परीक्षा ली थी। मैंने तुम्हारे बाहुबल को ख़ूब परख लिया था, हृदय के शील की कठिन परीक्षा और लेनी थी, उसमें भी तुम खरे उतरे। अब मुझे विश्वास है, संसार की कोई भी शक्ति तुम्हें स्वराज्य-साधना के मार्ग से हटा नहीं सकेगी। धन्य हो बेटा, आज मेरे आनन्द की सीमा नहीं है — संसार की सबसे सौभाग्यशाली माँ हूँ मैं जिसे भगवान् ने शिवा जैसा सुपुत्र प्रदान किया।"

"सौभाग्य तो भगवान् ने मेरी झोली में डाला है माँ जो तुम जैसी..."

निरन्तर बहते अश्रुओं की मूक वाणी में माँ-बेटे न जाने परस्पर कितना कुछ कह गये।

'पुरोधा', जुलाई २००७ से —वन्दना

मृखपृष्ठ पुष्पः

रूपान्तर

सृष्टि का लक्ष्य

(श्रीमाँ द्वारा दिया गया पुष्प का आध्यात्मिक अर्थ)

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

Rs.30.00 Vol. 50, No. 4 Regd.:SSP/PY/42/2018-2020
ISSN 0972-0782 WPP No. TN/PMG/(CCR)/WPP-471/18-2020
Date of Publication: 01. 11. 2020 (Monthly) RNI No. 22334/71

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

ADMISSIONS OPEN

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363